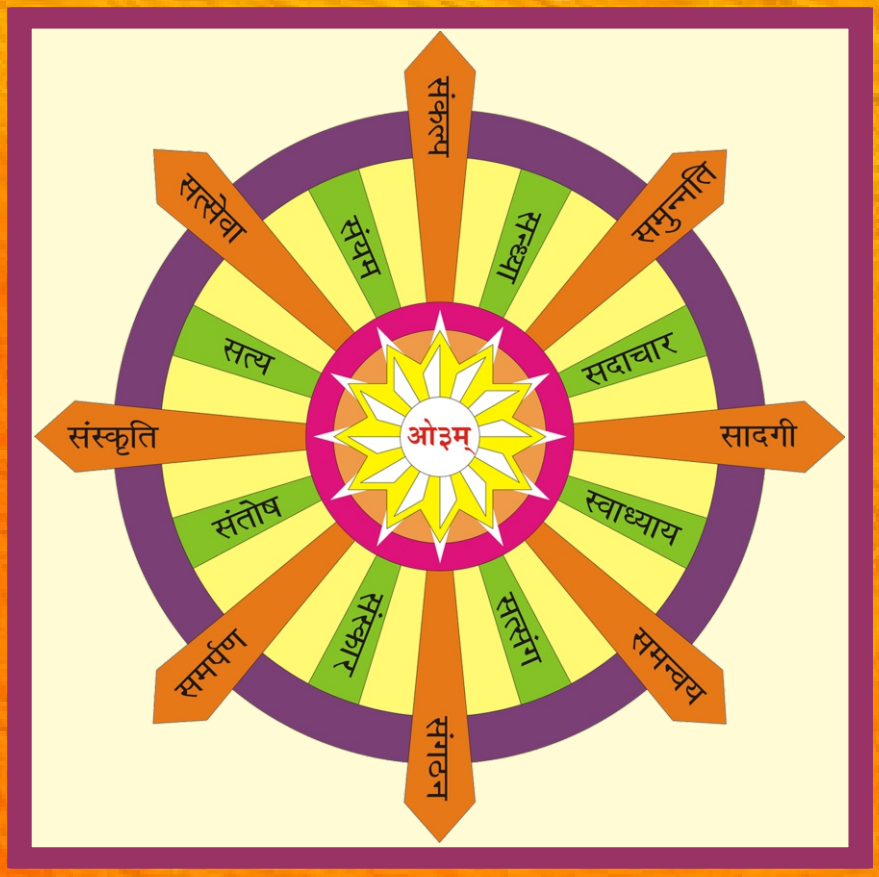
संवर्द्धिनी

वर्ष - 2021/22 विक्रम सम्वत् - 2078 अङ्क - 13

वार्षिक विशेषाङ्क



धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए-1/148 बी, मधुविहार, द्वारका

नई दिल्ली-59

सहयोगी-होता बनें

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' (पंजीकृत) दिल्ली राज्य' विगत कई वर्षों से सामाजिक सेवा में संलग्न है। इस सभा के माध्यम से साप्ताहिक नैतिक व धार्मिक कक्षाओं का द्वारका एवं उत्तम नगर क्षेत्र में समायोजन किया जाता है। समय-समय पर बाल चरित्र निर्माण योजना के अन्तर्गत 'संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर' 'संस्कृत-संभाषण शिविर' एवं 'योग शिविरों' का भी दिल्ली के विभिन्न-विभिन्न स्थानों पर समायोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त ग़रीब बालक एवं बालिकाओं के लिये आर्थिक सहायता तथा अनाथ-असहाय बच्चों के लिये गुरुकुलीय-शिक्षा का प्रबन्ध भी सभा की ओर से किया जाता है। शीत ऋतु में ग़रीब बच्चों को स्वेटर-इनर, मोजे, कैप तथा कम्बल आदि वितरित कर उनकी सहायता की जाती है।

यह सब कार्य आप सबके सहयोग से ही सम्भव है। अतः आप इस ज्ञान-यज्ञ एवं धर्म-यज्ञ में जो भी आहुति प्रदान करना चाहें, वह 'धर्म संवर्द्धिनी सभा' के नाम से चैक/ड्राफ्ट कार्यालय के पते पर भेज सकते हैं। यदि आप नक़द राशि देना चाहें, तो आप फोन नं0 09350733444 वा 09350233885 पर सूचित करें, आपसे सेवा प्राप्त कर आपको रसीद प्रदान कर दी जायेगी। इसके अतिरिक्त 600 रु0 वार्षिक देकर भी सभा के सहयोगी-होता बन सकते हैं।

आशा है कि आप अपनी पुण्य-कमाई में से 'धर्म संवर्द्धिनी सभा' का सहयोग कर, जहां सभा के कार्यों को प्रगति प्रदान करेंगे, वहां आप स्वयं भी धर्म-यज्ञ में आहुति देकर पुण्य-लाभ अवश्य प्राप्त करेंगे।

- निवेदक -

परमजीत कौर	वीरेन्द्र शर्मा	तारा शर्मा
(मन्त्रिणी)	(कोषाध्यक्ष)	(प्रधाना)

-: कार्यालय पता :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, द्वारका, नई दिल्ली-59

Email - samvardhini@yahoo.co.in / samvardhini@gmail. com

महर्षि दयानन्द कृत साहित्य के लिये अवश्य देखें -
Website - www. dharmsamvardhini.com

ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

वर्ष - 2021-22 **विक्रम सम्वत् - 2078** **अङ्क - 13**

सम्पादक :-
आचार्य श्याम
दूरभाष - 09811064932, 09350233885

सह-सम्पादक :-
डा0 कर्णदेव शास्त्री
दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-
सतीश मेहता, सुनील कोहली, रवि कोहली
कृष्णा झॉब, नीलम सूद, शकुन्तला आर्या

कार्यालय :-
धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)
जी-150, नारायण विहार, नई दिल्ली-28
दूरभाष - 09350733444, 09555534381

प्रधान कार्यालय :-
धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)
ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59
E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com
Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1.	मेरी भूल	पृष्ठ-2
2.	सम्पादकीय	पृष्ठ-3
3.	वेदामृतम्	पृष्ठ-5
4.	प्रार्थना क्या.. क्यों.. कैसे.. ?	पृष्ठ-22
5.	सदुपयोगिता का महत्त्व	पृष्ठ-24
6.	सु-संस्कार की महत्ता	पृष्ठ-25
7.	माइग्रेन का घरेलू उपचार	पृष्ठ-27
8.	मानवमात्र का उद्धारक महर्षि ...	पृष्ठ-28
9.	समुन्नति का आधार - सदाचार	पृष्ठ-33
10.	प्रेम-शक्ति की महत्ता	पृष्ठ-37
11.	वैदिक आदर्श गृहस्थ	पृष्ठ-39
12.	वर-वधू के स्वभाव की परीक्षा ...	पृष्ठ-41
13.	मेरे बचपन की कुछ स्मृतियां	पृष्ठ-42
14.	आत्मा कैसे पवित्र हो ?	पृष्ठ-46
15.	परिस्थिति समझें, तदनुकूल कार्य	पृष्ठ-47

ओ३म्

मेरी भूल

को नाऽनाम् वचसा सोम्यायं मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः।
कः इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥

(ऋ0 4/25/2)

[वामदेवः ऋषिः। इन्द्रः देवता। स्वराट् पंक्तिः छन्द। पञ्चमः स्वरः]

मेरे जीवन की अमिट भूल।
है अभ्यन्तर में खटक रही, प्रतिपल बन अतिशय तीक्ष्ण शूल॥
जिस सोम देव को नमस्कार, करना था मुझको बार-बार।
मैं उसे भूल, पाषाणमूर्त्ति पर, रहा चढ़ाता स्नेह फूल॥
जिस प्रिय के गुण का मधुरगान, था लक्ष्य हमारा चिर महान्।
मैं उसे भूल धनपतियों को, था बना रहा निज सानुकूल॥
जिस प्रिय का करना आराधन, सर्वस्व समर्पण कर तन-मन।
मैं उसे भूल, विषयों में रत, था खोज रहा भव-शान्ति-कूल॥
जिस प्रिय की किरणें दीप्तिमान, करतीं अभिनव जीवन प्रदान।
मैं उसे भूल, था समझ रहा, इन्द्रिय-सुख को ही सर्वमूल॥
जो जगत्-मित्र, जो जग-भ्राता, समभाव सभी को अपनाता।
मैं उसे भूलकर अन्धभक्ति में, रहा फांकता विरस धूल॥
जिस कवि के गीतों में विभोर, मानवता नवरस-सराबोर।
मैं उसे भूल जड़ प्रकृतिवाद, के चक्कर में था रहा झूल॥
मैं गया दूर तक पतन-ओर, पर अभी शेष इक मुक्ति-डोर।
अति क्षमाशील मेरा प्रियतम, विस्तृत है उसका प्रेम-तूल॥

सन्तप्रसाद

सम्पादकीय



कोरोना जैसे संक्रामक रोग के कारण हमारे देश में जिन विषम-परिस्थितियों ने जन्म लिया, सन् 2020 से पूर्व इस अवस्था की कोई परिकल्पना भी नहीं कर सकता था। लगभग एक शताब्दी पूर्व प्लेग नामक संक्रामक बीमारी के कारण भारत में कुछ ऐसी स्थिति बनी थी, जबकि लोग बिना मास्क पहने घर से नहीं निकलते थे। पर तब की हमारे देश की वैज्ञानिक उन्नति और आज की वैज्ञानिक उन्नति में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। हमारे देश के विज्ञान ने जिस युग में चन्द्र और मङ्गल ग्रह पर अपने विकास के ध्वज को स्थापित किया हो, उस देश में इस प्रकार की परिस्थितियां बन जायेंगी, ऐसी कल्पना हम किञ्चित् भी नहीं कर सकते थे। पर कोरोना के कारण हमारे देश में ही नहीं, अपितु अनेकों देशों में वहां की सरकारों ने लॉकडाउन लगाकर सबको घरों में रहने पर मजबूर कर दिया। हमारे देश में भी लॉकडाउन लगा, घरों में क़ैदी बनकर रहने पर हम मजबूर हुए। उसके बाद भी जब बाहर निकलने का साहस किया तो छः फुट दूरी और मास्क पहनना अनिवार्य था। सरकार सख्ती से नियमों का पालन करवाने पर मजबूर थी। बीमारी रुकने का नाम नहीं ले रही थी। कभी ऐसा लगता था कि शायद यह बीमारी चली जायेगी, पर ऐसा नहीं हुआ। जितना-जितना प्रयास किया गया, उतना ही कोरोना, हमें चेलेन्ज देता रहा। कोरोना के विनाश के लिए वैक्सीन बनाने की होड़ चली, उसमें भी हमारे देश के वैज्ञानिकों ने जी-तोड़ मेहनत कर सफलता प्राप्त की। पर इस संक्रामक रोग के कारण कुछ लोग काल के गाल में समा गये, कुछ मानसिक रोगों से ग्रस्त हो गये तो कुछ विक्षिप्त अवस्था को प्राप्त हो गये। आर्थिक-धार्मिक-सामाजिक ताना-बाना सब प्रकार से अस्त-व्यस्त हो गया। मन्दिरों की घंटियां बजनी बन्द हो गईं। कथा-प्रवचन बन्द हो गये, मन्दिर-गुरुद्वारे के द्वार तक बन्द हो गये।

इन सब विषम-परिस्थितियों का यदि शान्त मन से आज हम चिन्तन कर, अपने सत्कार्य-दुष्कार्य का आंकलन करें, तो कहीं न कहीं हमारे मस्तिष्क में इसका उत्तर छिपा हुआ अवश्य मिल जायेगा। विश्व के सभी देशों ने विकास की अन्धी दौड़ जिस प्रकार से लगानी प्रारम्भ की है और उसमें मनमाने ढंग से जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं का, पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग का उपभोग किया है, उसी का परिणाम है कि हम विनाश के कगार पर खड़े हुए हैं। ये मात्र चेतावनी है; यदि अभी भी हम नहीं समझे तो फिर मनुष्य का अस्तित्व इस पृथ्वीतल से समाप्त हो जायेगा, इस बात के सत्य होने में कोई संदेह नहीं। चीन के उपभोक्ता बाजार में जिस प्रकार से निरीह प्राणियों को जीवित आग में भून-भूनकर

खाया जाता हो, क्या उसे ईश्वरीय व्यवस्था में हस्तक्षेप न माना जाय ? वैसे तो जिस प्रकार से मांसाहारियों का व्यापक जाल फैलता चला जा रहा है, और मांसाहार मनुष्य के जीवन की एक शैली बन रहा है, उसे देखकर प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने को छोड़कर शेष सभी के अस्तित्व को अपनी जिह्वालोलुपता के कारण समाप्त करने के लिए तैयार है। आज ईश्वरीय व्यवस्था में विश्वास प्रतिदिन कम होता जा रहा है। अनेकों ऐसे देश भी हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। कुछ स्वीकार भी करते हैं, तो ईश्वर को अपने हाथ की कठपुतली के रूप में या आपत्ति में किसी सहायक के रूप में। अन्यथा आज का मनुष्य अपने ज्ञान-विज्ञान पर इतना घमण्ड कर रहा है कि वह ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगाने में संकोच नहीं करता। ऐसी परिस्थिति देखकर मुझे अकबर इलाहाबादी की कुछ पंक्तियां याद आती हैं –

भूलता जाता है यूरोप आसमानी बाप को।
बस ख़ुदा समझा है उसने बर्क़ को और भाप को।
बर्क़ उड़ जाएगी इक दिन और उड़ जाएगी भाप।
देखना अक़बर बचाये रहना अपने आप को॥

प्राकृतिक नियमों की अवहेलना से जब प्रकृति की मार मनुष्य पर पड़ती है या ईश्वर अपनी दण्ड व्यवस्था से पापियों को जब दण्ड देता है, तो वह दण्ड दिखाई नहीं देता, पर उससे कोई बच नहीं सकता। क्योंकि वेद कहता है –

"न देवानामति व्रतं शतात्मा च न जीवति"

(ऋ0 10/33/9)

देवों के व्रतों को तोड़कर कोई भी मनुष्य संसार में जीवित नहीं रह सकता।

इसलिये आवश्यकता है ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व को हृदय से स्वीकार करने की, आवश्यकता है प्रकृति को माता मानकर उसके संरक्षण की। यदि हम सजग हो सके तो हम अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकेंगे, अन्यथा हमारा विनाश अवश्यम्भावी है।

"धर्म संवर्द्धिनी सभा" इन सब परिस्थितियों को ध्यान में रखकर जिस मानवता और वैदिकधर्म के संरक्षण का उद्देश्य लेकर कार्यक्षेत्र में कार्य कर रही है, उसमें सबसे प्रथम प्राथमिकता है कि संसार के सभी मनुष्य आस्तिक बनें। जो सर्वोत्तम सत्ता **'सविता'** बनकर सबके अन्तःकरण में श्रेष्ठकर्म करने की तथा दुष्टकर्म छोड़ने की प्रेरणा देती है, उसकी आवाज़ को सुनकर दुष्टभावों से पृथक् होकर सत्कार्य करें। हम स्वयं धर्ममार्ग पर आरूढ़ हों तथा दूसरों को भी आरूढ़ करने की प्रेरणा दें। साथ में प्रकृति का मात्र दोहन न करें, अपितु यज्ञ, वृक्षारोपण आदि सत्कार्यों द्वारा तथा मन-वचन-कर्म को अहिंसा और परोपकार-मय कार्यों में संलग्न करें, तो हमारी वर्तमान पीढ़ी ही श्रेष्ठ नहीं होगी, अपितु आगे आने वाली पीढ़ियां भी उस सुख से पूरित होंगी।

इस वर्ष कोरोना के कारण नैतिक-धार्मिक-सामाजिक कार्यों की दौड़ कुछ बाधित हुई है, पर जैसे हर रात्रि के बाद दिन आता है, उसी आशा के साथ यदि हम मन में सद्भावना रखकर, सद् संकल्प के साथ सत्कार्य करने का लक्ष्य रखेंगे, तो प्रभुकृपा से हम अवश्य ही अपने लक्ष्य तक पहुंचने में समर्थ होंगे। ❐

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(अथर्ववेद 8/4/22)

(चातनः ऋषिः। रक्षोहणं सूक्त। इन्द्रसोमो देवते। त्रिष्टुप् छन्दः)

पदच्छेदः –

उलूक। यातुम्। शुशुलूक। यातुम्। जहि। श्व। यातुम्। उत। कोक। यातुम्। सुपर्ण। यातुम्। उत। गृध्र। यातुम्। दृषद्। एव। प्र। मृण। रक्ष। इन्द्रः।

शब्दार्थः –

(उलूक) उल्लू के समान **(यातुम्)** गति वा कार्य करने वाली प्रवृत्ति **(शुशुलूक)** भेड़िये के समान **(यातुम्)** कार्य करने वाली प्रवृत्ति **(जहि)** छोड़ दो **(श्व)** कुत्ते के समान **(यातुम्)** कार्य करने वाली प्रवृत्ति **(उत)** और **(कोक)** चकवा वा चिड़े के समान **(यातुम्)** कार्य करने वाली प्रवृत्ति **(सुपर्ण)** गरुड़ के समान **(यातुम्)** कार्य करने वाली प्रवृत्ति **(उत)** और **(गृध्र)** गिद्ध [गीध] के समान **(यातुम्)** कार्य करने वाली प्रवृत्ति **(दृषद्)** पत्थर वा कठोर पदार्थ द्वारा **(एव)** ही **(प्र)** प्रकृष्टता से अर्थात् अच्छी तरह से **(मृण)** मसल दो वा पूरी तरह से नष्ट कर दो **(रक्ष))** इन राक्षसों को **(इन्द्रः)** हे ऐश्वर्यशालिन् जीवात्मन्! ।

भावार्थः –

हे ऐश्वर्यशालिन् जीवात्मन्! तुम उल्लू के समान मोहान्धकारयुक्त कार्य करने की प्रवृत्ति को, भेड़िये के समान हिंसक प्रवृत्ति को, कुत्ते के समान ईर्ष्यामयी प्रवृत्ति को, चकवे के समान काम-वासनामयी प्रवृत्ति को, गरुड़ के समान अहङ्कारमयी प्रवृत्ति को और गिद्ध के समान लालच की प्रवृत्ति को पूरी तरह से छोड़ दो। जैसे पत्थर वा कठोर साधन से किसी वस्तु को कुचलकर नष्ट कर दिया जाता है, वैसे ही तुम इन राक्षसमयी प्रवृत्तियों को विनष्ट कर, ऐश्वर्य व सोम के स्वामी बनो।

व्याख्या –

प्रस्तुत मन्त्र का देवता है – 'इन्द्र' वा 'सोम'। ये दोनों नाम परमात्मा के भी हैं और जीवात्मा के भी। परमात्मा ऐश्वर्यवान् होने के कारण 'इन्द्र' तथा सबका प्रमुख अधिपति होने के कारण 'सोम' कहलाता है; उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रियों का स्वामी होने के कारण 'इन्द्र' तथा समस्त शरीरधारी प्राणियों में प्रमुख=मुख्य होने के कारण 'सोम' कहलाता है।

अब प्रश्न होता है कि यहां इस मन्त्र में प्रयुक्त शब्द **'इन्द्र'** और **'सोम'** इनका अर्थ परमात्मापरक किया जाय या जीवात्मापरक; तो उसका सरल उपाय यह है कि जिस सन्दर्भ में इस मन्त्र का प्रयोग हुआ है, उसी सन्दर्भ में हम परमात्मा या जीवात्मापरक विषय का निर्णय कर सकते हैं। यह मन्त्र अथर्ववेद के जिस काण्ड वा सूक्त से लिया गया है, वहां पर आठवें काण्ड में तीसरे व चतुर्थ सूक्त में कुल 51 मन्त्र हैं, जिसका नाम है – **रक्षोहण सूक्त,** और उसके ऋषि हैं – चातन। **'चातन'** का अर्थ है – क्षति पहुंचाना, विनष्ट करना। पर किसका ? तो उसका उत्तर इस सूक्त का प्रतिपाद्य नाम स्वयं देता है – **'रक्षोहणम्'** अर्थात् राक्षसों को। जिस ऋषि ने इन राक्षसों के विनष्ट करने में अपने जीवन की समस्त शक्ति व्यय कर दी, उस ऋषि का नाम **'चातन'** प्रसिद्ध हो गया। वही चातनऋषि, जो वेदमन्त्रों के साक्षात्दृष्टा हैं, उनका सन्देश संसार के समस्त मानवों के लिए है, न कि परमात्मा के लिए। राक्षसों का आक्रमण मनुष्य पर होता है, परमात्मा पर नहीं। इसलिये यहां 'इन्द्र' और 'सोम' मनुष्य के अर्थ में ही यदि प्रयुक्त किये जायें तो मन्त्र के अर्थ की सङ्गति समुचित हो सकती है। क्योंकि मनुष्य समस्त इन्द्रियों का स्वामी भी है तथा संसार के समस्त प्राणियों में उसका प्रमुख व उच्च स्थान है। तभी तो शास्त्रकारों ने मनुष्य जीवन को श्रेष्ठ-जीवन माना है।

जीवन की श्रेष्ठता मात्र मनुष्य जन्म पाने से ही सिद्ध नहीं होती, अपितु जीवन में मनुष्यता के धारण करने से ही सिद्ध होती है। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग भी संसार में जन्म प्राप्त करते हैं और मरकर चले जाते हैं। वे संसार में मात्र भोगयोनि के रूप में जन्म लेते हैं और सांसारिक भोग भोगकर चले जाते हैं। परन्तु मनुष्य-जन्म भोगयोनि के साथ-साथ कर्मयोनि भी है। मनुष्य जन्म पाकर जहां पूर्वकृत कर्मों का तथा वर्त्तमानकृत कर्मों का भोग प्राप्त करता है, वहां वह कर्म करने के स्वभाव से किसी न किसी नव्य कर्म में संयुक्त रहता है। उसके कर्म में स्वाभाविक ज्ञान के साथ-साथ नैमित्तिक ज्ञान का सम्मिश्रण रहता है, जबकि पशु-पक्षियों के कर्मों में मात्र स्वाभाविक ज्ञान ही संयुक्त होता है। पर विडम्बना यह है कि उस स्वतन्त्रता का जब सम्यक् उपयोग मनुष्य नहीं करता, तो वह पशुओं से भी निकृष्ट बन जाता है। पशु को पशु इसलिये कहा जाता है कि वह स्वाभाविक ज्ञान के आधार पर भोगों को देखता है और भोग में प्रवृत्त हो जाता है; परन्तु मनुष्य उन भोगों को भोगने से पूर्व विचार कर सकता है, और वह यह निर्णय भी कर सकता है कि मैं इस पदार्थ का

उपभोग करूं या न करूं। यह चेतना व ज्ञान पशुओं में नहीं है, इसलिये वे पशु हैं। पर चेतना और ज्ञान के द्वारा मनन की विधा से संयुक्त होने के कारण ही मनुष्य को मनुष्य कहा जाता है। महर्षि यास्क से जब यह पूछा गया कि – **'मनुष्य किसे कहते हैं ?'** तो उन्होंने अनकों कारणों की चर्चा अपने ग्रन्थ में की; उन कारणों में एक प्रमुख कारण यह है कि – जो विचार, मननपूर्वक, हानि-लाभ को दृष्टिगत रखते हुए उचित-अनुचित परिणाम की चिन्तना करने की क्षमता रखता है, उस मनन शक्तिवाले प्राणी को मनुष्य कहा जाता है। इसीलिये समस्त शास्त्रों व ऋषियों ने मनुष्य जीवन को सर्वश्रेष्ठ माना है। महाभारत के प्रणेता महर्षि वेदव्यासजी ने तो स्पष्ट कहा है – **"न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"** अर्थात् मनुष्य जीवन से श्रेष्ठ संसार में और कुछ नहीं है।

बात सत्य ही है कि संसार में जितनी भी शारीरिक, आत्मिक, मानसिक, बौद्धिक उन्नति देखी जाती है, उसमें मनुष्य की चेतना व मननशक्ति का बहुत बड़ा योगदान है। पर उस शक्ति का मानव-समाज ने जिस प्रकार दुरुपयोग किया है, वह उसको पशु से भी निम्नतम श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब मनुष्य अपनी चेतना शक्ति का प्रयोग लक्ष्य को छोड़कर, मात्र भोग में ही अनुरक्त कर लेता है। पर यहां वेदभगवान् उस दुरुपयोगिता को दूर करने के उद्देश्य से जो सन्देश संसार के समस्त मनुष्यों को दे रहे हैं, यदि उस सन्देश को जानकर आत्मावलोकन किया जाय और मनुष्य अपनी वृत्ति-प्रवृत्ति का प्रत्येक कार्य व व्यवहार में निरीक्षण-परीक्षण करने लगे, तब प्रतीत होगा कि उसको जो मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, वह उसका सम्यक् सदुपयोग इसलिये नहीं कर पाया है कि उसने अनेकों प्रकार की राक्षस-वृत्तियों से अपने को संयुक्त कर रक्खा है। इससे उसकी चेतना **'शून्य'** जैसी स्थिति में पहुंच गई है और वह मनुष्य जन्म प्राप्त करने के बाद भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहा है।

प्रस्तुत मन्त्र, मनुष्य-जीवन में मनुष्यता उत्पन्न करने तथा दोषों से पृथक् होने के उद्देश्य का संकेत देते हुए कहता है – "हे इन्द्र [जीवात्मन्] ! तू अपने अन्दर बसी इन राक्षस वृत्तियों को हटा। यदि तूने ऐसा कर लिया तो तू सच्चे ऐश्वर्य का अधिपति बनकर श्रेष्ठतम जीवनवाला बन जायेगा। बस, थोड़ी-सी मेहनत कर, जो तेरे अन्दर छिपे बैठे राक्षस हैं, जिन्हें सांसारिक भाषा में मोह-क्रोध, द्वेष-काम, अभिमान और लोभादि कहा जाता है, इनको तू अपने से दूर कर, और सच्चे अर्थों में इन्द्रियों का अधिपति बनकर उस इन्द्र परमात्मा के ऐश्वर्य-समुद्र में से यथाशक्ति ऐश्वर्य को प्राप्त कर। तू संसार में मात्र भोग भोगने के लिए ही नहीं आया; तूने तो यहां आकर आनन्द को प्राप्त करना है। आनन्द दूर नहीं है, तेरे समीप है, तेरा थोड़ा-सा प्रयत्न उस आनन्द को प्राप्त करा देगा जिससे तू निहाल हो जायेगा। तू अपने पिता की कृपा का पात्र बनकर देख। तू जिसके लिए जन्म-जन्मान्तरों में भटकता हुआ भिन्न-भिन्न जन्म लेकर अनेकों माताओं के स्तनों का

दुग्धपान कर ममत्त्व प्राप्त करता हुआ तथा अनेकों पिताओं का स्नेह प्राप्त करता हुआ यत्र-तत्र भटक रहा था, थोड़ा-सा पुरुषार्थ तुझे लक्ष्य तक पहुंचा देगा। इसके लिए तू इतना प्रयत्न कर कि - वेदभगवान् तुझे जो रास्ता सुझा रहे हैं, तू उस रास्ते पर चल। तुझे वह रास्ता निश्चित ही आनन्दधाम तक पहुंचा देगा। तब तू आवागमन के चक्र से पृथक् होकर, मुक्ति को प्राप्त कर सकेगा। बस, इस कार्य के लिए तू छः प्रकार के राक्षसों को नष्ट कर, जो तेरे अन्दर छिपे बैठे हैं। यदि तू इन राक्षसों को विनष्ट कर सका, तो निश्चित ही सफलता तेरे कदमों को चूमेगी। हाँ, इतना अवश्य याद रख कि इन राक्षसों को तूने मात्र दबाना नहीं, इनको पूरी तरह विनष्ट करना है। जैसे किसी वस्तु की उत्पादकशक्ति को विनष्ट कर दिया जाता है, तू भी उसी प्रकार सद्ज्ञान के कठोर प्रस्तरखण्ड द्वारा इनको इस प्रकार विनष्ट कर कि फिर ये राक्षस कभी तुझ पर आक्रमण न कर सकें।

अरे ! तू तो इन्द्र-परमात्मा का इन्द्र-पुत्र है। तू संसार में पशुवत् जीवन जीने के लिए नहीं आया, तूने तो अपने पिता इन्द्र के ऐश्वर्य का उपभोग करना है। पर यह तभी सम्भव है जबकि तू इन राक्षसों को विनष्ट कर सच्चा **इन्द्र** व **सोम** बन जायेगा। यदि तेरा पुरुषार्थ इस निमित्त हुआ तो इन्द्र-परमात्मा कौन-सा ऐश्वर्य है, जिसकी तुझ पर वृष्टि न करेगा ? अरे ! पिता अपनी सम्पत्ति पुत्र पर ही वार देना चाहता है; पर उस सम्पत्ति के सम्यक् संरक्षण व संवर्द्धन के लिए पुत्र में पात्रता का होना अनिवार्य है। तू उस पात्रता को उत्पन्न कर और वेदमन्त्र द्वारा निर्दिष्ट छः प्रकार की राक्षस-वृत्तियों को पूर्ण-परिश्रम से हटा। तब तुझे ज्ञात होगा कि तू अब तक कहां मिट्टी के ठीकरों को बटोरने में अपनी शक्ति व्यय कर रहा था ? यदि उसमें तुझे कुछ सुख की छाया किञ्चित् दिखाई भी दे रही थी तो वह सुख मृगतृष्णा वाला सुख था, सच्चा सुख नहीं। सच्चा सुख तो आनन्द के रूप में तुझे अपने पिता की शरण में प्राप्त होगा। बस, उस शरण को प्राप्त करने के लिए तू छः प्रकार के दोषों का त्याग कर। इन राक्षस वृत्तियों का परिभव कर, उनको कुचलकर नष्ट कर। वेद जिन राक्षस वृत्तियों को पूर्णतः विनष्ट करने का संकेत दे रहा है, वे निम्न हैं -

(1) उलूकयातुं [जहि] -

हे मनुष्य ! तू उल्लू के समान कार्य करने की प्रवृत्ति को छोड़।

अब विचारणीय बात यह है कि उल्लू की ऐसी कौन-सी प्रवृत्ति है जो मनुष्य में विद्यमान है और वेदभगवान् उसे छोड़ने की आज्ञा दे रहे हैं। जब इस प्रश्न का समुत्तर जानने का आप प्रयत्न करेंगे तो सर्वप्रथम उल्लू के कार्य तथा उसकी प्रवृत्ति को समझना अत्यावश्यक होगा। जीवविज्ञान-शास्त्रियों की दृष्टि में उल्लू अपना शिकार दिन में नहीं करता, क्योंकि वह सूर्य की किरणों को देखकर अपनी आंखें बन्द कर लेता है। तभी तो भर्तृहरि जी ने लिखा है - **"नोलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्"** यदि सूर्य के प्रकाश में उल्लू अपनी आंखें बन्द कर ले, तो सूर्य का क्या दोष ? सूर्य तो

संसार को प्रकाश दे रहा है, पर यदि उल्लू उस प्रकाश का लाभ प्राप्त नहीं करना चाहता तो इसमें सूर्य का कोई भी दोष नहीं है; यदि दोष है तो उल्लू का। विडम्बना यह है कि उल्लू दिन में आंखें बन्द कर लेता है अथवा दिन में सोता है, परन्तु वह रात्रि के अन्धकार में पूरी तरह से जागरण करता हुआ अपने शिकार में निमग्न रहता है। उल्लू की दृष्टि रात्रि के अन्धकार में अपने स्थान से सौ फीट दूर पर रखी हुई वस्तु को भी देख सकती है। उल्लू, मनुष्य से दस गुनी धीमी आवाज़ को सुन सकता है। बिना आवाज़ के उड़ने की क्षमता रखता है। वह बिना पलक झपके वा बिना पुतली घुमाये मात्र अपनी गर्दन को 270 डिग्री तक मोड़कर अपने शिकार को देख लेता है। नुकीले पंजों से उसका शिकार करता है और उस शिकार को पूरी तरह से निगल जाता है। ये प्राकृतिक रूप से जो वृत्ति-प्रवृत्ति उसको प्राप्त हुई है, वह भोगयोनि के कारण शायद उपयुक्त प्रतीत हो, पर जिस प्रकार का कार्य उल्लू करने में तत्पर रहता है, यदि कोई मनुष्य उसी प्रकार के कार्य को करने में प्रवृत्त हो, तो फिर वह दोष के रूप में ही गिना जायेगा। कारण स्पष्ट है कि मनुष्य स्वाभाविक और नैमित्तिक बुद्धि के द्वारा चेतनायुक्त होकर कार्य करने में सक्षम है। परन्तु कोई मनुष्य चेतना के द्वार बन्द कर, नैमित्तिक बुद्धि का आश्रय प्राप्त करना छोड़ दे, और जो स्वाभाविक बुद्धि है, उसमें भी स्वार्थ या मोह का सम्प्रयोग कर उल्लू की तरह से कार्य करने का प्रयत्न करे, तो क्या आप ऐसे मनुष्य को मनुष्य कहने के लिये तैयार हैं ? यदि नहीं, तो जो मनुष्य बिना बुद्धि का सम्प्रयोग करते हुए येन-केन-प्रकारेण स्वार्थ को पूरा करने में निमग्न हैं, ऐसे मनुष्यों को यदि उल्लू से भी अधिक निकृष्ट कहा जाय तो अतिश्योक्ति न होगी। जैसे उल्लू को साहित्यकारों ने **"दिवान्धः कौशिको घूको दिवाभीतो निशाटनः"** कहकर दिन में अन्धा वा भयभीत और रात्रि में विचरण करनेवाला कहा है, ठीक उसी प्रकार जो मनुष्य मात्र स्वार्थ या मोह के पाश में पड़कर बिना विचारे स्वयं के पोषण में तत्पर है तो फिर उसे निश्चित ही उल्लू की प्रवृत्ति वाला कहा जा सकता है। ऐसे मनुष्य का स्वार्थ या मोह चाहे स्वयं के पोषण के लिये हो अथवा किसी विशिष्ट परिजन के लिए, पर इतना निश्चित है कि उल्लू की प्रवृत्ति वाला मनुष्य कभी जीवन में श्रेष्ठ कार्य करने की इच्छा नहीं कर सकता। जैसे उल्लू आंखें बन्द करके दिन में अन्धे की तरह जीवन निर्वहण करता है, उसी प्रकार विवेक की आंखें जिस मनुष्य ने बन्द कर लीं और वह स्वार्थपूर्ति में निमग्न है, ऐसा मनुष्य यदि उल्लू नहीं तो फिर कौन मनुष्य उल्लू होगा ? **'अन्ध'** या **'अन्धा'** शब्द **"अद् भक्षणे"** धातु से बना है, जिसका अर्थ है खाने-पीने या भोग भोगने में मस्त-व्यस्त रहने वाला। वह जो कार्य करता है, उस कार्य में **क्या-क्यों-कैसे** आदि शब्दों का किञ्चित् भी स्थान नहीं है। भाषा-विज्ञानियों की दृष्टि में **'उल्लू'** शब्द **'वल संवरणे संचलने च'** धातु से बना है, जिसका अर्थ है - आच्छादित करना, ढ़क लेना। जब मनुष्य, उल्लू की भांति अपने को

स्वार्थ या मोह से ढ़क लेता है, तो वह अन्धा बन जाता है। वह अपनी वस्तु को ही अपना नहीं समझता, वरन् वह दूसरे की वस्तु को भी अपना बनाने का भरसक प्रयत्न करता है। महाभारत में धृतराष्ट्र इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। धृतराष्ट्र मात्र शारीरिक रूप से आंखों से ही अन्धा नहीं है, अपितु वह पुत्रमोह के कारण अपने को इतना अधिक विवेकशून्य कर चुका है कि वह भाई के पुत्रों को भी उनके अधिकार से वंचित रखना चाहता है। वह सम्पूर्ण ऐश्वर्य का उपभोग स्वयं करना चाहता है या अपने पुत्र दुर्योधन को देना चाहता है। जब कोई मनुष्य दूसरे के भोग को भी अपना समझ, अपने को ही देने लगे तो समझ लीजिये कि अब उसमें पागलपन का लक्षण प्रत्यक्ष आने लगा है। क्योंकि **'मोह'** शब्द संस्कृत भाषा में **'मुह वैचित्ये'** धातु से बनता है, जिसका अर्थ है - पागल होगा, विचलित होगा, बिना समझवाला होना अथवा मूर्ख होना। ऐसे मनुष्य चाहे कितनी भी सम्पत्ति अर्जित कर लें, वे न तो शान्ति से अपनी सम्पत्ति का उपभोग करते हैं और न शान्ति से दूसरों को रहने देते हैं। इसलिए ऐसे लोग मूर्ख ही नहीं, महामूर्ख कहे जाते हैं। वे पारिमार्थिक मार्ग को छोड़कर स्वेच्छा से स्वार्थमार्ग का संवरण कर विवेकशून्य होकर पशुवत् जीवन व्यतीत करते हैं। वेद-भगवान् इस प्रकार की प्रवृत्ति को छोड़ने का आदेश देकर स्पष्ट कह रहे हैं - **"उलूकयातुं जहि"** हे मनुष्य ! तू उल्लू की स्वार्थ वा मोह की प्रवृत्ति को छोड़, अन्यथा तू दुःख के सागर में डूबकर अपने जीवन व सौभाग्य को व्यर्थ ही नष्ट-भ्रष्ट कर लेगा। अरे ! तूने मनुष्य जन्म प्राप्त किया है तो तू मनुष्य बन। मनुष्य तू तब बन सकता है जब इन पाशविक वृत्तियों से अपने को मुक्त कर मनुष्यता उत्पन्न करे। तू जितना स्वार्थ वा मोह से ग्रसित होगा, उतनी ही अधिक पाशविक वृत्तियों के महापाश में तू दृढ़ता से बंधता चला जायेगा। ये स्वार्थ तथा मोह तुझे अनेकों दोषों से जोड़ देंगे। तब तुझमें वह दोष भी प्रवेश कर जायेंगे, जिनकी मनुष्य के लिये किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं है। उसका संकेत देते हुए वेदभगवान् अगले दोष का वर्णन करते हुए कहते हैं -

(2) शुशलूकयातुं [जहि] -

हे मनुष्य ! तू भेड़िये के समान कार्य करने की प्रवृत्ति को छोड़। जैसे उल्लू मोह का प्रतीक है, वैसे ही भेड़िया यहां क्रोध का प्रतीक है। भेड़िया चालाक, खूंखार, क्रोधी च लालची माना जाता है। वैसे स्वभावतः भेड़िये को जीवविज्ञानियों ने कायर प्रकृति का जीव माना है, पर अपनी चालाकी के कारण वह अपने कायरपन को छिपाने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी वह आंख मूंदकर रहता है तथा सबके सो जाने पर रात्रि में शिकार करता है। वेदमन्त्र आदेश देता है **"शुशुलूकयातुं जहि"** तू भेड़िये की चाल को छोड़। इसका अभिप्राय यह है कि चालाकी से क्रूरतापूर्वक क्रोध प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति को, हे मनुष्य ! तू छोड़। विद्वानों की मान्यता है कि क्रोध अन्दर से कायर होता है, क्योंकि यह राजस गुण के आधार पर अपने अस्तित्व का बनाये रखना चाहता है। यदि

सत्त्वगुण प्रबलता से इसका प्रतिरोध करने को तैयार हो जाये तो फिर यह दुम दबाकर भागता खड़ा होता है। पर सत्त्वगुण के अभाव में राजस गुण का प्राबल्य होने पर जब इसकी स्वार्थसिद्धि में कोई बाधा उत्पन्न होती है तो फिर क्रोध का प्राकट्य हो जाता है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं –

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता 3-37)

अर्थात् – काम और क्रोध, रजोगुण से उत्पन्न होते हैं; पर यह कभी न तृप्त होने वाला, निरन्तर भोगों को प्राप्त करने की इच्छावाला महापापी है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि क्रोध कभी न तृप्त होने वाला तथा निरन्तर पाप में प्रवृत्त रहनेवाला है। अब आप स्वयं ही कल्पना करके देख लें कि जिस मनुष्य ने अपने जीवन में क्रोध को स्थान दे दिया, वह अपने जीवन को पापमय होने से कैसे बचा सकता है ? जैसे मोहान्ध मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है, यदि उस मोह के साथ क्रोध का सम्मिश्रण कर दिया जाये तो मनुष्य पूर्णतः विक्षिप्त होता हुआ पथभ्रष्ट हो जाता है। फिर उस मनुष्य की मनुष्यता कहीं और चली जाती है और वह धीरे-धीरे भेड़िये के समान लालची, खूंखार व चालाक प्रवृत्ति का बन जाता है। उसका यह कार्य उसको स्वयं में इतना अधिक पतित कर देता है कि वह देखने में चाहे मनुष्य का चोला धारण किये हुए हो, पर आन्तरिक रूप से भेड़िये के सदृश बन जाता है। इसलिये वेद कहता है कि – हे मनुष्य ! तू भेड़िये की प्रवृत्ति को छोड़। तू संसार में मनुष्य बनकर कुछ श्रेष्ठ कार्य करने के लिये आया है। यदि तू दोषों के जाल में उलझ गया तो तेरा मनुष्य-जन्म प्राप्त करना निष्फल होगा। मनुष्य तो मननपूर्वक कार्य करने से बनता है। तेरा संसार में आने का उद्देश्य क्या है, तूने सर्वप्रथम उस पर विचार करना है। जो मनुष्य अपनी मनन क्रिया का पूर्ण रूप से सम्प्रयोग कर, कार्य करने में सदैव संलग्न रहते हैं, वे अपने-आपको दोषों से बचाकर सदैव सुख प्राप्त करते हैं। ऐसे लोगों को परमात्मा की कृपा भी प्राप्त होती है। इस बात को भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को समझाते हुए कहा है –

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

(गीता0 5/23)

अर्थात् – जो मनुष्य शरीर का नाश होने से पहले अर्थात् मृत्यु से पूर्व कर्म करने के काम में काम-क्रोध के आक्रमण से अपने को बचाने में समर्थ हो जाता है, वही मनुष्य कालान्तर में योगी अथवा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

इसलिये वेदभगवान् मनुष्य को सन्देश देते हैं कि – हे मनुष्य ! तू भेड़िये के समान क्रूर व क्रोधी स्वभाववाला मत बन। तू अपने इन दोषों को शीघ्र ही दूर कर। तब तू अनुभव करेगा कि तेरा जीवन कितना सुखमय बनता चला जा रहा है। तेरी गति सुगति हो जायेगी, तेरा कार्य, सुकार्य बन जायेगा और फिर तू शान्तभाव से, अन्याय से

पृथक् रहकर सुकर्म में प्रवृत्त होता हुआ परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार कर, परमानन्द को प्राप्त कर लेगा।

वेदभगवान् मनुष्य को सावधान करते हुए तीसरे दोष का संकेत देते हुए आगे कहते हैं-

(3) श्वयातुं [जहि]-

हे मनुष्य ! तू कुत्ते की प्रवृत्ति को छोड़। कुत्ता जहां लालच के प्रतिनिधि के रूप में जगत्प्रसिद्ध है, वहां विद्वानों के अनुसार वह सजातीयों के साथ ईर्ष्या-द्वेष के अवगुण के लिए भी प्रसिद्ध है। कभी आप दो-चार कुत्तों के समूह के सामने कुछ खाने-पीने का पदार्थ डालकर देख लीजिये, उन कुत्तों में जो सशक्त कुत्ता होगा, वह अपने सजातीय बन्धुओं को उस पदार्थ से वंचित रखने का हर-सम्भव प्रयास करेगा। एक कुत्ता जिस सीमा में रहता है, जिन गलियों में घूमता है, वा जिस इलाके को अपना मानता है, उस स्थान पर यदि आप किसी अन्य कुत्ते को साथ लेकर पहुंच जायें अथवा कोई अन्य इलाके का कुत्ता उस स्थान पर पहुंच जाये तो उस गली के सभी कुत्ते भौंक-भौंककर उसे वहां से हटने पर मजबूर कर देंगे; और यदि वह कुत्ता बलात् वहां खड़े रहने की जुर्रत करेगा तो उस इलाके के सारे कुत्ते मिलकर उस पर आक्रमण कर देंगे और उसे वहां से हटा करके ही शान्त होंगे। लालच का अवगुण जो कुत्ते में देखा जाता है, वह सामान्य अवगुण है। उसे तो आप अन्य प्राणियों में भी देख सकते हैं। वेदमन्त्र के दूसरे बिन्दु में जिस भेड़िये के दोषों की चर्चा की गई है, उस भेड़िये में भी लालच की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यह बात पृथक् है कि भेड़िया जङ्गल में रहता है, इसलिये हम उसकी लालच की वृत्ति पर ध्यान नहीं दे पाते। कुत्ता हमारे घर के समीप गलियों में घूमता फिरता है तो हम उसकी लालच की वृत्ति को स्पष्टतः अनुभव कर लेते हैं और किसी बच्चे की लालच की वृत्ति देखकर हम सामान्य रूप से कुत्ते की उपमा देने में संकोच नहीं करते। यदि यहां वेदभगवान् को लालच के दोष को ही इंगित करना होता तो वह बात **'शुशुलूक'** के अन्तर्गत भी कही जा सकती थी, और पृथक्-पृथक् प्राणियों का नाम न देकर एक विशिष्ट प्राणी की बात कहकर उसके दोषों का ही दिग्दर्शन करा दिया जाता। परन्तु यदि यहां पृथक्-पृथक् कुछ प्राणियों के नाम देकर कुछ अवगुणों की चर्चा करते हुए उन अवगुणों को छोड़ने का सन्देश दिया गया है, उससे स्पष्ट सन्देश यह है कि आप उन प्राणियों के विशिष्ट दोषों को देखें और उस दोष को अपने जीवन से निकालने का पूर्ण प्रयत्न करें।

जब इस कसौटी पर आप कुत्ते की वृत्ति-प्रवृत्ति को देखने का प्रयत्न करेंगे तो कुत्ते में ईर्ष्या-द्वेष विशिष्ट अवगुण के रूप में अवश्य ही परिलक्षित होंगे। कोई मनुष्य कुत्ते के सामने रोटी का टुकड़ा डाल दे तो **"चाटुशतैश्चभुङ्क्ते"** वह कुत्ता चाटुकारों की तरह पूछ हिलायेगा, ज़मीन पर लेट जायेगा, खुशामद करेगा; पर यदि उस स्थान पर उसका कोई सजातीय साथी आ जाय तो उससे वह ईर्ष्या-द्वेष करेगा, उसे हर-सम्भव भगाने का प्रयत्न करेगा। यह प्रवृत्ति जहां कुत्ते में देखने को मिलती है, यदि यही प्रवृत्ति

मनुष्य समाज में स्थित मनुष्यों में देखने को मिले तो इस प्रवृत्ति को दुष्ट ही कहा जायेगा।

आप इस दोष को दृष्टि में रखकर मनुष्य-समाज का आंकलन करने का प्रयास करें तो अधिकांश मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष के ज़हर से भरे हुए दिखाई देंगे। उन्हें दूसरे की उन्नति किञ्चित् भी सह्य नहीं है। वे उन्नतिवाले मनुष्य पर अनेकों दोषों का आरोपण कर या तो उसे अधर्मी-पापी सिद्ध कर देंगे या उससे ईर्ष्या-द्वेष कर, उसकी सम्पन्नता को येन-केन-प्रकारेण विनष्ट करने का प्रयत्न करना चाहेंगे। संस्कृत भाषा में इस प्रकार की प्रवृत्ति के लिए **'मात्सर्य'** वा **'अक्षान्ति'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। अक्षान्ति का अर्थ है - डाह रखना, ईर्ष्या रखना, अर्थात् दूसरे की उन्नति को देखकर जलना। इसलिये संस्कृत साहित्य में **"अक्षान्तिरीर्ष्या"** [अ0को0] कहकर अक्षान्ति और ईर्ष्या को पर्यायवाची माना गया है।

याद रखो, जहां ईर्ष्या होगी, वहां द्वेष अवश्य होगा। जो दूसरे की उन्नति को देखकर प्रसन्न नहीं होते, उनकी अप्रसन्नता उनके हृदय में अन्दर ही अन्दर इस प्रकार के विष को उत्पन्न कर देगी कि वह मनुष्य उन्नतशील मनुष्य से द्वेष भी करने लगता है। उसे अपना शत्रु वा वैरी मानने में कोई संकोच नहीं करता। जबकि उस मनुष्य ने इसके किसी कार्य में कभी कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं किया। पर उस डाह व ईर्ष्या की वृत्ति धीरे-धीरे द्वेष के परिणाम के रूप में प्रकट होकर उसके प्रति विरोध के भाव को उत्पन्न कर देगी। महर्षि मनु ने ईर्ष्या-द्वेष को आन्तरिक क्रोध से उत्पन्न होने वाला माना है, जो **"रागद्वेषौरजः स्मृतम्"** [मनु0 12/26] रजोगुण के आधिक्य से प्रकट होता है। उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में आठ प्रकार के अवगुणों को क्रोधज माना है। वे लिखते हैं -

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजश्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणाष्टक॥

(मनु0 7/28)

अर्थात् - पिशुनता (फूट डालना), साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया (गुण में दोष देखने का भाव), अर्थदूषण, तथा वाग्दण्ड (कटु वचन), कठोरता - ये आठ प्रकार के दुर्गुण क्रोधज होते हैं।

मनु के इन विचारों का अवलोकन करने के बाद यह तो निश्चित है कि किसी की समुन्नति से ईर्ष्या रखनेवाला मनुष्य आन्तरिक क्रोध की अग्नि में झुलसता रहता है, जिसका परिणाम घृणा, द्वेष, वैर व दुश्मनी के रूप में परिणित होता है। जो मनुष्य राग-द्वेष, ईर्ष्या-क्रोध, वैरादि दोषों से बंधा हुआ है, उसके जीवन में कितने भी सुख प्रभुकृपा से क्यों न उपलब्ध हों, पर वह दोषों के कारण दुःखों की सृष्टि का सृजन करता हुआ सदैव दुःखसागर में डूबा रहता है। तभी तो भगवान श्रीकृष्णजी ने कहा है -

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

(गीता 7/27)

हे अर्जुन ! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्व रूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि ईर्ष्या-द्वेष रखनेवाला मनुष्य जीवन में कभी उन्नति नहीं कर

पाता; वह तो मूर्खत्व के दोष से अपने को ढकने का प्रयत्न करता है। इसलिये वेद में कहा है –

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥

(अथ0 6/18/1)

अर्थात् – हे मनुष्य ! तू परमात्मकृपा से हृदय में उत्पन्न होने वाली प्रेम की धारा से ईर्ष्या की अग्नि को बुझा। यदि तूने ऐसा किया तो निश्चित ही तू शोक से पृथक् होकर सम्यक् शान्ति को प्राप्त करेगा।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष के दोष से मुक्त होना चाहता है तो उसे अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट न रहना चाहिये, अपितु सबकी उन्नति को अपनी उन्नति मानने का भाव रखना चाहिये। इस स्थिति में पहुंचने का एक ही उपाय है कि हम अपने हृदय को विशालता से भरने का प्रयत्न करें। ईर्ष्या-द्वेष जैसे अवगुणों को उत्पन्न ही न होने दें। यदि पूर्वकृत कर्मदोष से यह दोष कहीं दिखाई भी दे, तो प्रातः-सायं प्रभु चरणों में बैठकर प्रार्थना करें – **"योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः"** हे पिता ! जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है, हम उसे आपकी न्याय व्यवस्था में रख देते हैं।

इस प्रकार का सद्भाव ईर्ष्या-द्वेष से जीवन को विमुक्त करता हुआ प्रेमानन्द के विशाल सागर में डुबकी लगवाकर सम्पूर्ण जीवन को आनन्दयुक्त कर देगा। इसलिये वेद भगवान् कहते हैं – **"श्वयातुं जहि"** हे मनुष्य! तू कुत्ते की ईर्ष्या-द्वेष वाली वृत्ति को छोड़। तू मनुष्य है, मनुष्य बन। मनुष्यता धारण कर इस जीवन में प्रभुकृपा से आनन्द प्राप्त कर।

(4) कोकयातुं [जहि] –

हे मनुष्य ! तू चकवे के समान कार्य करने की प्रवृत्ति को छोड़।

'कोक' शब्द संस्कृत व हिन्दी साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। इसको चकवा, कोकनद, चक्रवाक तथा चकई भी कहा जाता है। यह हंस जाति का प्राणी है। चकवा-चकवी के संयोग-वियोग की अनेकों व्यञ्जनायें साहित्य व व्यवहार में प्राप्त होती हैं। यहां तक कि अथर्ववेद में नवदम्पत्ति के प्रेम की निष्ठा में चकवा-चकवी की उपमा परिलक्षित होती है। चकवा, मादा-चकवी से कुछ बड़ा तथा गर्दन के चारों ओर माला जैसी कंठी वाला होता है, जबकि मादा के कंठी नहीं होती। चकवा साहित्यकारों की दृष्टि में काम (Sex) का प्रतिनिधि है। चकवे के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि चकवा अपनी कामुक-प्रवृत्ति के कारण सदैव चकवी के ध्यान में निमग्न रहता है। चकवा-चकवी दोनों साथ-साथ रहते हैं; पर विडम्बना देखिये कि यदि ये दोनों एक पिंजरे में भी हों तो प्राकृतिक नियमानुसार ये एक-दूसरे के मुख से विपरीत दशा में रात्रि व्यतीत करते हैं, जिसके कारण ये दोनों वियोगाग्नि में झुलसते प्रतीत होते हैं। तभी तो कहा है –

चकवा-चकवी दो जने, इन मत मारौ कोय।
ये मारे करतार के, रैन बिछोया होय॥

इनके मिलन व वियोग में कामुकता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। वेदभगवान् मनुष्य में निहित कामुक-वृत्ति पर अंकुश लगाने की दृष्टि

से आदेश देते हैं कि – हे मनुष्य ! तुम चकवा-चकवी के समान कामुक प्रवृत्ति को छोड़। यह ठीक है कि बिना काम के सृष्टि का सृजन नहीं होता, इसलिये काम प्रत्येक प्राणी के साथ जुड़ा है। परन्तु काम की भी एक सीमा है। यदि काम की आसक्ति के पाश में मनुष्य बंधता चला गया जो उसकी कामशक्ति पतन का कारण बन जायेगी। भारतीय संस्कृति में आश्रम-व्यवस्था का निर्माण इस वृत्ति को नियन्त्रित करने के लिये ही हुआ है। गृहस्थ में जिस काम के द्वारा इन्द्रिय-जनित सुख प्राप्त कर सृष्टि के संवर्द्धन में योगदान दिया जाता है, वही काम ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ और संन्यास में त्याज्य है। कारण यह है कि कामना में आसक्त मनुष्य निर्लज्ज, अशक्त एवं विपरीत दृष्टिकोण वाला बन जाता है। उसे यह पता ही नहीं होता कि उसके जीवन प्राप्त करने का उद्देश्य क्या है? उसका परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य क्या है ? कामासक्ति से पीड़ित मनुष्य शारीरिक ही नहीं अपितु वह मानसिक-बौद्धिक और आत्मिक दृष्टि से पतित हो जाता है। परमात्मा ने मनुष्य-जन्म पतित होने के लिये नहीं दिया; यदि ऐसा होता तो वह हमें व आपको चकवा-चकवी के रूप में ही जन्म दे देता, मनुष्य रूप में नहीं। यदि उसने हमें मनुष्य-जन्म प्रदान किया है तो फिर स्वाभाविक है कि मनुष्य को प्रत्येक कार्य में मननशक्ति का सम्प्रयोग करना चाहिये। मनन क्रिया ही मनुष्य की निरंकुशता पर अंकुश लगा सकती है। उसी अंकुश लगाने की दृष्टि से वेदभगवान् ने आदेश दिया है – **'कोकयातुं जहि'** हे मनुष्य ! चकवा-चकवी के समान तू कामासक्ति को छोड़। जीवन में कामासक्ति की नैरन्तर्यता कहीं न कहीं अनुचित आचरण में प्रवृत्त करती है। **"अत्यारूढो हि मनुष्याणामकालज्ञो मनोभवः"** अत्यन्त कामासक्ति में मनुष्य उचित-अनुचित आचरण का विवेक नहीं कर पाता। **"कामातुराणां न भयं न लज्जा"** कामासक्त मनुष्य में न तो भय होता है और न लज्जा होती है। वह निर्लज्ज व विवेकहीन होकर मात्र कामासक्ति की पूर्ति में ही निमग्न रहता है। वह उस बात का मनन नहीं कर पाता कि इस कामासक्ति-पाश में फंसने का परिणाम, उपस्थित समुन्नति के अवसर को खोकर जीवन व्यर्थ नष्ट करना ही है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णजी ने गीता में अर्जुन को समझाते हुए कहा है –

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गी0 2/62, 63)

अर्थात् – विषयों के प्रति निरन्तर ध्यान से मनुष्य में कामासक्ति का भाव पैदा होता है। उसकी विषय भोगने की इच्छा अधिक बलवती हो जाती है। जब उस इच्छा की पूर्ति में वह किसी व्यवधान को देखता है तो उसमें क्रोध का आवेग उत्पन्न होने लगता है। क्रोध के आवेग से उसमें मूढत्त्व का भाव उत्पन्न हो जाता है। मूढत्त्व के भाव से स्मृति में विकृति आ जाती है। स्मृति के विकृत होने से बुद्धि नाशभाव को प्राप्त होती है और बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य का पूर्णरूप से विनाश हो जाता है।

अब आप भगवान् श्रीकृष्णजी के कथन को नीचे से ऊपर की ओर पढ़कर विचार करके देखें और वेद के संदेश का अवलोकन करें, तो आपको यह अवश्य प्रतीत होगा कि यदि मनुष्य अपने जीवन को विनष्ट होने से बचाना चाहता है तो सर्वप्रथम उसकी बुद्धि ठीक रहनी चाहिये। **"बुद्धिर्यस्य बलं तस्य"** बुद्धिमान् मनुष्य ही सब बलों का स्वामी होता है। बुद्धि का स्वामी मनुष्य तब होगा, जब उसे स्मृति का पूर्णतः सहयोग मिले। स्मृति तब ठीक रहती है जब उसमें किञ्चित् भी मूढत्त्व का भाव न हो। इस स्थिति के लिये आवश्यक है कि मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में शान्ति व धैर्य का सम्प्रयोग कर क्रोध को उत्पन्न न होने दे। अक्रोधी बनने के लिए आवश्यक है कि उसमें किसी वस्तु-स्त्री वा पुरुष के प्रति आसक्ति न हो। आसक्ति का अभाव उस मनुष्य में स्थिर रह सकता है जो इन्द्रियों को विषयों से पृथक् कर, अपने को भक्ति और सेवा में निमग्न रहने का अभ्यासी बना चुका हो। ऐसा कार्य करना अत्यन्त कठिन है। पर कल्पना कीजिये कि कोई मनुष्य इस प्रकार का कार्य करने में समर्थ हो जाये तो फिर न वह किसी बाह्यरोग से पीड़ित होगा और न आन्तरिक रोग से। वह तो सम्पूर्ण जीवन स्वस्थतापूर्वक व्यतीत करता हुआ **'स्व'** में ही स्थित होकर पूर्णतः **'स्व+स्थ'** बन जायेगा। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं –

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गी0 2/58)

अर्थात् – जैसे कछुवा सब ओर से अपने अङ्गों को समेटकर अन्तस्थित कर लेता है, वैसे ही जब मनुष्य इन्द्रियों को विषयों के क्षेत्र से पृथक्कर, निग्रहवृत्ति द्वारा परमात्मा में अवस्थित कर लेता है, तब उस मनुष्य की बुद्धि स्थिर व विवेकयुक्त हो जाती है। तब वह विवेक द्वारा मनुष्य-जीवन को सार्थक करता हुआ अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

इसलिये वेदभगवान् **"कोकयातुं जहि"** कहकर संसार के मनुष्यों को यह सन्देश देते हैं कि – तुम चकवा-चकवी के समान काम (Sex) में आसक्त मत रहो। उस काम को वासना मत बनने दो, उस काम को अपने सिर पर मत बैठाओ। काम आपका सेवक है, उससे कहां कार्य लेना है, कितना लेना है, कब लेना है, इसका विवेक रखो। तुम मालिक हो, मालिक बनकर रहो। तुम सेवक को मालिक मत बनने दो। परमात्मा ने तुम्हें इस संसार में ऐश्वर्यों के भण्डार में भेजा है। तुम पाषाण-खण्डों को बटोरकर जीवन नष्ट मत करो। तुम मनुष्य हो, तो अपनी मननक्रिया द्वारा श्रेष्ठ कार्य करते हुए लक्ष्य को प्राप्त करो; इसी में जीवन की सार्थकता है।

(5) सुपर्णयातुं [जहि] –

हे मनुष्य ! तू गरुड़ के समान कार्य करने की प्रवृत्ति को छोड़।

यहां पर सबसे प्रथम हमें गरुड़ के कार्य व उसकी प्रकृति को जानने का प्रयत्न करना चाहिये, तत्पश्चात् हम इस बात का निर्णय करेंगे कि वेदभगवान् गरुड़ के किस दोष को त्यागने का सन्देश दे रहे हैं।

प्रागैतिहासिक साहित्य में गरुण मनुष्य-विशेष का नाम भी है और पक्षी विशेष का भी। यदि हम ध्यान से उस शब्द का निरीक्षण करें तो स्पष्टतः ज्ञात होगा कि गरुण और गरुड़ दोनों शब्दों को एक मानकर हमारे इतिहास को भ्रमित करने का प्रयास किया गया है। क्योंकि जितने भी गरुण या गरुड़ के पर्यायवाची शब्द हैं, उन शब्दों में आप मनुष्य-विशेष का भी नाम देख सकते हैं और पक्षी विशेष का भी। जैसे - वैनतेय या काश्यपि। इन शब्दों पर यदि विचार किया जाय तो जो **विनता** का पुत्र है वह **वैनतेय** है और जो कश्यप का पुत्र है वह **काश्यप** है। अब इतिहास के पृष्ठों को पलटें तो ज्ञात होता है कि दक्ष-प्रजापति की दो पुत्रियां थीं- (1) कद्रू (2) विनता। विनता का विवाह महर्षि कश्यप से हुआ। महर्षि कश्यप ने अपनी सहधर्मिणी विनता के गर्भ से दो सन्तानों को उत्पन्न किया - (1) गरुण (2) अरुण। गरुण की पत्नी का नाम 'उन्नति' या 'विनायका' है तो अरुण की पत्नी का नाम 'श्येनी' है। इस आधार पर गरुण मनुष्य विशेष का नाम है, जिनके परिवार में सम्पाती और जटायु नामक सन्तान उत्पन्न हुई। इस विषय का विशेष विश्लेषण यहां करना हम इस प्रसङ्ग में उचित नहीं समझते। इसके लिये हम पृथक् से किसी लेख द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि सम्पाती व जटायु पक्षी नहीं थे, वे मनुष्य थे। इसलिये जटायु को पक्षी मानकर सीता हरण के समय रावण के साथ युद्ध और श्रीराम द्वारा जटायु का अन्तिम संस्कार करना, यह भ्रम उचित नहीं होगा।

अब गरुण या गरुड़ के दूसरे पक्ष पर विचार करें तो साहित्य में गरुड़ के लिये खगेश्वर, सुपर्ण, सर्पभोजी तथा गरुत्मान् आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। पुराणकारों ने गरुण के अन्तिम अक्षर 'ण' को 'ड़' मानकर एक भी अर्थ में घटाते हुए यह मान लिया कि गरुड़ एक पक्षी विशेष का नाम है। पुराणकारों के आधार पर गरुड़ का सिर, चोंच और पंख पक्षियों के समान है तथा शेष शरीर मनुष्य के समान है; जिसमें चेहरा श्वेत रङ्ग का, नाक और चोंच तोते जैसे लाल रङ्ग की तथा सम्पूर्ण शरीर स्वर्ण रङ्ग (सुनहरा) जैसा है। ऐसे शरीर को देखकर अथवा कुछ अङ्गों की संरचना में मनुष्य की आकृति का साम्य देखकर उस पक्षी को मनुष्य मान लेना, तर्क और विज्ञान सम्मत नहीं कहा जा सकता। जैसे कि वनमानुष की आकृति में यदि मनुष्य के कुछ अङ्गों का साम्य आपको प्रतीत होने लगे तो क्या आप वनमानुष को मनुष्य के रूप में स्वीकार करेंगे ? यदि नहीं, तो स्पष्ट है कि जैसे वनमानुष पशु जाति में है, वैसे ही सुनहरे रङ्ग वाला पक्षी विशेष गरुड़ है। पर आधा शरीर पक्षी का और आधा शरीर मनुष्य का, यह अवश्य ही किसी लेखक की कल्पना हमारे साहित्य को भ्रष्ट कर, अश्रद्धावान् बनाने की दृष्टि से की होगी। मनुष्य से मनुष्य उत्पन्न होता है, पशु से पशु और कृमि से कृमि, तो फिर पृथ्वी पर ऐसी कौन-सी ऐसी जाति है, जिसकी संरचना में ऊपर का शरीर पक्षी का और नीचे का शरीर मनुष्य का हो ? इस प्रकार की रचना कल्पना के धरातल पर हो सकती हैं, पर सृष्टि

रचना के धरातल पर नहीं। हमारी दृष्टि में गरुण और गरुड़ के अन्तिम अक्षर के अभेद के कारण हमने दोनों को एक ही मानकर पक्षी और मनुष्य की मिश्रित कल्पना कर ली। अन्यथा यह मानना चाहिये कि महर्षि कश्यप और उनकी सहधर्मिणी विनता के द्वारा जो सन्तान हुई, वह गरुण मनुष्यरूप में थी; और यदि कोई गरुड़ नाम से विख्यात पक्षी-विशेष है, जिसका रङ्ग सुनहरा है, तो पक्षी है। गरुण मनुष्य और गरुड़ पक्षी दोनों पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं। इसलिये हमें अपने मस्तिष्क से सर्वप्रथम इस भ्रम को निकाल देना चाहिये कि गरुड़ का आधा शरीर मनुष्य का है और आधा शरीर पक्षी का। स्पष्ट बात यह है नाम के साम्य और अन्तिम अक्षर के उच्चारण में भेद न करने के कारण जो कल्पना की गई है, वह समुचित नहीं है। हम इस विषय की अधिक समालोचना करना यहां उचित नहीं समझते। हमें यहां यह ज्ञात करना है कि वेद भगवान् ने जिस गरुड़ के दोष को त्यागने की बात कही है, वह किस सन्दर्भ में है। अस्तु -

प्रस्तुत वेद के मन्त्र का विचारणीय मन्त्रांश है - **"सुपर्णयातुं जहि"** हे मनुष्य ! तू सुपर्ण की प्रवृति वाला मत बन। उसमें जो दोष है, उस दोष से अपने को सदा पृथक् रख। यहां सुपर्ण शब्द पक्षी विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसे सामान्य भाषा में गरुड़ कहा जाता है। जो खगेश्वर, सर्पभोजी, गरुत्मान् तथा सुपर्ण है। सुपर्ण का अर्थ है - सु+पर्ण = सुन्दर पंख वाला अथवा सुनहरे पंखों वाला। जिसे अंग्रेजी भाषा में गोल्डन ईगल (Golden Eagle) कहा जाता है। यह पक्षी अत्यन्त तीव्र दृष्टिवाला तथा 12000 फुट की ऊंचाई तक 250 किलोमीटर की गति से उड़ने की क्षमता रखता है। जीवविज्ञानियों की मान्यता है कि गरुड़, जिसे सुपर्ण भी कहा जाता है, इसको अपनी सुन्दरता का बड़ा अभिमान होता है। यह समझता है कि इस पृथ्वी पर मेरे समान सुन्दर अन्य कोई भी प्राणी नहीं है, जबकि इसका प्रमुख भोजन सर्प है। गरुड़ की इस मनोवृत्ति को देखकर विद्वानों ने गरुड़ को **'अभिमान'** का प्रतीक माना है। प्रस्तुत मन्त्रांश में **"सुपर्णयातुं जहि"** कहकर जिस गरुड़ के दोष को छोड़ने की वेदभगवान् ने बात कही है, वह है कि - मनुष्य को अभिमान से सदैव पृथक् रहना चाहिये, अन्यथा वह अभिमान के पाश में बंधकर पशु-पक्षी से भी अधिक निकृष्ट हो जाता है।

संस्कृत भाषा में **"गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः"** कहकर गर्व, अभिमान और अहङ्कार को एक-दूसरे का पर्यायवाची माना है। यदि हम इन शब्दों के अन्तस्तल को टटोलने का प्रयत्न करें तो यह निश्चित है कि - जब **'अहम्'** अर्थात् **'मैं'** का आधिपत्य मनुष्य द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कार्य में परिलक्षित होता है, तो उसे **'अहङ्कार'** कहते हैं। जब उस अहङ्कारी मनुष्य में सर्वत्र सम्मान प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो जाती है और वह अपने सम्मान को ही सर्वत्र देखने व प्रत्येक कार्य में स्थापित करने का प्रयत्न करता है तो वह **'अभिमान'** की स्थिति कहलाती है। ऐसा अभिमानी मनुष्य जब स्वयं के निमित्त सम्मान पाने की इच्छा को बलात् दूसरों पर थोपने का कार्य करता है, तो वह **'गर्व'** से

युक्त हो जाता है। **'गर्व'** की स्थिति आगे बढ़ती हुई **'दर्प'** को उत्पन्न करती है। **'दर्प'** का अभिप्राय है सम्मान पाने की तीव्रोष्ण इच्छा के ताप से युक्त होना। जब मनुष्य के मन-मस्तिष्क में सम्मान के ताप की गर्मी भरी रहती है तो वह मनुष्य अन्य मनुष्यों को कीड़े-मकोड़े की भांति व्यवहार करता हुआ उनको दुःख देकर **सदैव सन्ताप** देता हुआ स्वयं में सुख का अनुभव करता है। उस अनुभव में जब छल-कपट, झूठ-फरेब का भाव संयुक्त हो जाता है तो वहां उस मनुष्य का दोष उसके लिये **'दम्भ'** बन जाता है। यही **'दम्भ'** उसके जीवन में दुष्टता के भाव का अतिरेक उत्पन्न कर, उसको विशिष्ट पाप में संयुक्त कर उसको **महापापी** बना देता है।

विशेष विचारणीय बात यहां यह है कि जब मनुष्य में अहङ्कार के दोष का समावेश हो जाता है तो वह अहङ्कारी-मनुष्य पतित होता हुआ अन्त में पापी बनकर अपने जीवन को विनष्ट कर बैठता है। जबकि विचार करके देखा जाय तो वह जिस वस्तु के कारण अहङ्कार कर रहा है, वह उसका है ही नहीं। वह अहङ्कार चाहे रूप का हो, धन का हो, यौवन का हो या अन्य किसी प्रकार का। इसलिये चिन्तक-विचारकों ने कहा है -

धन अरु यौवन को गरल, कबहूं करिये नाहिं।
देखत ही मिट जात है, ज्यों बादर की छांहि ॥

कवि वृन्दजी कहते हैं कि - हे मनुष्य ! तू धन-यौवन पर अभिमान मत कर। ये तो बादल की छाया के समान अस्थिर हैं। आज तेरे पास है, कल किसी और के पास होंगे।

वेद में भी कहा है -

नभो॒ न रू॒पं ज॑रि॒मा मिनाति ॥ (ऋ0 1/71/10)

अर्थात् - धन-रूप-सौन्दर्य बादल की भांति नश्वर तथा अस्थिर हैं। जैसे वायु बादल को दूर उड़ा ले जाती है, वा उसे छिन्न-भिन्न कर नष्ट कर देती है, वैसे ही वृद्धावस्था तेरे सौन्दर्य व धन के अहङ्कार को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

उसका कारण यह है कि **"वयोरूप-विभूतीनामेकैक मदकारणम्"** (रघु0 17/43) आयु, यौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य मनुष्य को विवेकहीन कर देता है। इसलिये आद्य जगत्गुरुशङ्कराचार्य जी ने (मोह0 11) कहा है -

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं।
हरति निमेषात् कालः सर्वम् ॥

अर्थात् - हे मनुष्य ! तू धन-जन-यौवन का अभिमान मत कर। कालरूपी चक्र इन सब को हरण कर रहा है। जो तेरे पास है, वह सदा तेरे पास नहीं रहेगा। आज तेरे पास है, कल किसी और के पास होगा; फिर अभिमान कैसा ?

ठीक ऐसा ही सन्देश जैन साहित्य में प्राप्त होता है। बड़ी प्रसिद्ध पंक्ति हैं -

न जाइ मत्तं नय रूब मत्ते।
न लाभ मत्ते न सुएण मत्ते ॥

अर्थात् - जाति का घमण्ड मत करो। रूप का घमण्ड मत करो। धन का घमण्ड मत करो। ज्ञान का घमण्ड मत करो।

उसका कारण स्पष्ट है कि जो आपके समक्ष है, वह आपका नहीं, किसी और का दिया हुआ है। दूसरे की दी हुई वस्तु पर अधिकार बनाना अच्छा नहीं। जब वस्तु दूसरे की है तो

फिर अहङ्कार कैसा ? क्या तुम दूसरों की वस्तु प्राप्त करके शहंशाह बनना अच्छा समझते हो ? यदि नहीं, तो तुम अहंकारवश प्रभु की दी हुई वस्तु को अपना क्यों मान बैठे हो ? तुम्हें तो विचार करना चाहिये - **"कस्यस्विद्धनम्"** यह ऐश्वर्य किसका है ? जब इस प्रश्न पर बार-बार विचार करोगे तो उत्तर आयेगा कि - यह सब कुछ परमात्मा का ऐश्वर्य है, जो हमें उसकी कृपा से प्राप्त हुआ है। पर विडम्बना यह है कि मनुष्य ईशकृपा द्वारा प्राप्त वस्तु को अपना मानकर अहंकार कर, पथभ्रष्ट होता हुआ अनमोल मनुष्य जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है। इसलिये वेदभगवान् ने कहा है - **"सुपर्णयातुं [जहि]"** हे मनुष्य ! तू सुपर्ण (गरुड़) के समान अहङ्कार के दोष को अपने जीवन से हटा, तभी तू समुन्नति के पथ पर अग्रसरित हो सकता है।

(6) गृध्रयातुं [जहि] -

हे मनुष्य ! तू गृध्र (गिद्ध=गीध) की प्रवृत्ति को छोड़।

हम सब जानते हैं कि गिद्ध मांसाहारी प्राणी है। इसमें मुर्दा जानवरों को खाने, सूंघने व दूर से देखने की शक्ति अति तीव्र होती है। कहा जाता है कि गिद्ध कई किलोमीटर की दूरी से मुर्दा जानवर को देख लेता है और अवसर पाते ही उसे अपना भक्ष्य बनाता है। विद्वानों ने गिद्ध को **'लोभ'** का प्रतिनिधि माना है। उनकी मान्यता है कि जितनी लोभ-लालच की भावना गिद्ध में देखी जाती है, उतनी अन्य जीवधारी प्राणियों में नहीं।

अब आप कल्पना कीजिये कि यदि गिद्ध के समान लोभ-लालच का दोष किसी मनुष्य के अन्दर प्रवेश कर गया तो क्या वह मनुष्य 'मनुष्य' रह सकता है ? उत्तर मिलेगा - कदापि नहीं। क्योंकि लोभ-लालच का दोष आते ही मनुष्य में तृष्णा की बाढ़ आ जाती है और वह नियम के विरुद्ध कार्य करता हुआ, पापकर्म में निमग्न हो जाता है। इसका क्रम इस प्रकार है -

लोभात्क्रोधः प्रभवति, लोभात् कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम्॥

(हि0 मि0 27)

अर्थात् - लोभ आने पर मनुष्य-जीवन में क्रोध का प्रभाव बढ़ने लगता है। लोभ ही कामनाओं को निरन्तर जन्म देने लगता है। लोभ ही फिर मोह को उत्पन्न करता है। इस कारण से लोभ को विद्वानों ने पाप का कारण माना है।

आप इतिहास के पृष्ठों को पलट करके देखें तो आपको ज्ञात होगा कि अनेकों युद्ध राजाओं में लोभ के दोष के कारण हुये। किसी को रूप का लोभ, किसी को धन का लोभ, किसी को राज्यवृद्धि का लोभ। उन इतिहास के पृष्ठों का अवलोकन कर, जब उसके निष्कर्ष को जानने का प्रयत्न किया जायेगा तो ज्ञात होता है कि लोभरूपी दोष के कारण उन राजाओं का सर्वस्व विनष्ट हो गया। सीता का स्वर्णमृग के प्रति लोभ सीता-हरण का कारण बना। रावण का सीता के रूप के प्रति लोभ इतना अधिक था कि वह उसको अपनी पटरानी बनाना चाहता था, पर परिणाम उसका तथा उसके परिवार का

सर्वस्व विनाश का कारण बना। महाभारत में दुर्योधन का राज्य के प्रति लोभ इतना अधिक था कि वह अपने परिजनों को उनका अधिकार देने को किञ्चित् भी तैयार नहीं था। वह तो चाहता था कि किसी भी तरह से कांटा हटे और वह पूरे साम्राज्य का स्वामी बने। इसके लिये उसने वह-वह कार्य पाण्डवों के प्रति किये, जिनकी कल्पना शायद ही कोई कर सके। भगवान् श्रीकृष्ण ने युद्ध की विभीषिका को रोकने की दृष्टि से पांच पाण्डवों के जीवन-यापन हेतु एक-एक गांव देने का दुर्योधन के समक्ष प्रस्ताव रखा, परन्तु वह किसी की भी बात मानने को तैयार नहीं हुआ। उसका लोभ इतनी पराकाष्ठा तक पहुंच गया कि वह पाण्डवों के साथ युद्ध करने को तो तैयार हो गया, पर एक-एक गांव देने के लिए नहीं। परिणाम - युद्ध हुआ। जिसमें 18 अक्षौहिणी सेना मारी गई और उस युद्ध में दुर्योधन को भी अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। तभी तो गिरिधर कवि ने कहा है-

लोभ न कबहू कीजिये, या में विपत्ति अपार।
लोभी को विश्वस नहिं, करै कोउ संसार॥

कहते हैं कि एक कछुवे ने नदी में एक सुनहरी मछली को देखा। उसने उससे मित्रता कर ली। उस नदी के किनारे एक शिकारी प्रतिदिन आता, नदी में जाल बिछाता और अनेकों मछलियों को जाल में फंसाकर उन्हें ले जाता। एक दिन उस कछुवे ने उस सुनहरी मछली से पूछा - बहिन ! एक बात बताओ, शिकारी प्रतिदिन आता है और जाल में फंसाकर अनेकों मछलियों को ले जाता है, पर एक तुम हो, जो शिकारी के जाल से अपने को बचा लेती हो, उसका कारण क्या है ? इस पर उस मछली ने कहा - भाई ! जब शिकारी आता है तो मैं उस स्थान से दूर चली जाती हूं। यदि किसी कारणवशात् नहीं जा पाती हूं तो फिर शिकारी के पैरों के पास नीचे तैरती रहती हूं। पर मेरे जो अन्य साथी हैं वे जिह्वालोलुपता के कारण शिकारी के जाल में फंसकर मृत्यु को प्राप्त करती हैं। मेरे बचने का कारण अलोभ है और उनकी मृत्यु का कारण उनका लोभ है।

जब लोभ के दोष के कारण मछली अपने जीवन को विनष्ट कर बैठती है तो जिस मनुष्य में लोभ का दोष होगा, उसका जीवन विनष्ट क्यों न होगा ? इसलिये वेद कहता है - **"मा गृधः"** तू गिद्ध की तरह लालच मत कर, अन्यथा तेरा जीवन भी नष्ट हो जायेगा।

प्रस्तुत मन्त्र में **"गृद्धयातुं जहि"** कहकर मनुष्य को सन्देश दिया है कि हे मनुष्य ! तू गिद्ध जैसी लोभ की प्रवृत्ति को छोड़।

तू उल्लू में निहित मोहान्धकार की, भेड़िये में क्रोध की, कुत्ते में ईर्ष्या की, चकवे में विषयभोग की, गरुड़ में अभिमान की तथा गिद्ध में निहित जो लोभ की वृत्ति है, उससे पृथक् रह। यदि तुझे यह प्रतीत होता है कि मेरे अन्दर मोह-क्रोध-ईर्ष्या-काम-अभिमान-लोभ विद्यमान हैं तो तू तुरन्त उनको सद्ज्ञान के पत्थर वा किसी संकल्प की कठोर वस्तु से कुचल कर नष्ट कर, जिससे तू श्रेष्ठपथ का अनुगामी बनकर, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो; यही वेदमन्त्र का स्पष्ट सन्देश है। ❐

प्रार्थना क्यों..क्यों..कैसे..?

डा0 कर्णदेव शास्त्री
उपप्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली

मानव का स्वभाव है कि किसी भी धार्मिकस्थल मन्दिर-गुरुद्वारा आदि में जब कहीं भी जाता है, वहां कुछ न कुछ याचना करता रहता है। वहां हमें क्या मांगना है, कैसे मांगना है, क्या प्रार्थना करनी है, कैसे करनी है, क्यों करनी है ? आदि अपनी-अपनी तरह भांति-भांति से प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में प्रश्नोत्तर के माध्यम से बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। प्रश्न हुआ है कि- परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करनी चाहिए या नहीं ? उत्तर है - करनी चाहिए। फिर प्रश्न है कि - क्या स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना-उपासना करने वाले के पाप को छुड़ा देगा ? उत्तर है - नहीं। तो फिर स्तुति-प्रार्थना-उपासना क्यों करनी चाहिए? उत्तर स्पष्ट है - कि उनके करने से फल अन्य ही हैं। वे क्या हैं ? तो महर्षि बे-जोड़ उत्तर देते हैं कि - स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव को सुधारना। प्रार्थना से निरभिमानता उल्लास और साहाय्य का मिलना, उपासना से परमब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार। ये इतने सटीक उत्तर महर्षि की अमृतवाणी है, और यही प्रार्थना है।

ऋषि दयानन्द ने अपनी सूत्रात्मक शैली के सौ रत्नों की माला बनायी, जिसका नाम **"आर्योद्देश्यरत्न माला** है, जिसमें महर्षि प्रार्थना सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करते हुए लिखते हैं - "पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर अथवा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य से सहायता लेने को प्रार्थना कहते हैं।" पर एक ओर हम हैं कि बिना पुरुषार्थ के पता नहीं, क्या-क्या प्रार्थना करते हैं, क्या मांगते हैं ? अरे ! प्रार्थना ही करनी है तो वेदों की ओर लौटो; उनका स्वाध्याय व अध्ययन करो, सत्सङ्ग करो और प्रभु से प्रार्थना करो - परमात्मन् ! हमारा जीवन सुपथानुगामी हो। वेद में कितनी सुन्दर प्रार्थना है -

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्। यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हु॒रा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम॥ (यजु0 40/16)

अर्थात् - हे स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करनेहारे सकल सुख के दाता परमेश्वर ! आप जिससे सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके हम लोगों को विज्ञान व राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञान और उत्तम कर्म प्राप्त कराइये और हमसे कुटिलतायुक्त पापरूप कर्म को दूर कीजिये।

जब इस प्रकार प्रार्थना करें और तदनुकूल आचरण भी करें तो ईश्वर आपकी प्रार्थना अवश्य ही स्वीकार करेगा। इसके लिए पुरुषार्थ परम आवश्यक है। बिना पुरुषार्थ के प्रार्थना कैसे स्वीकार होगी ? कहा भी है –

पुरुषार्थ ही इस दुनिया में सब कामना पूरी करता है।
मनचाहा फल उसने पाया जो आलसी बनके पड़ा न रहा॥

वेद कहता है –

कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ॥

(यजु0 40/2)

अर्थात् – हे मनुष्य तू कर्म करता हुआ सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा कर। लेकिन कर्म भी सुकर्म हो, क्योंकि अच्छे कर्म करनेवाले की अन्य लोग भी सहायता करते हैं। नीतिकार कहता है –

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

(हि0प्र0 36)

परिश्रम = पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथों से नहीं। जैसे सोए हुए शेर के मुंह में हिरन स्वयं प्रवेश नहीं करते।

अतः प्रार्थना के साथ परिश्रम भी जरूरी है। हम कभी किसी के अहित की प्रार्थना स्वप्न में भी न करें। अहित की प्रार्थना करने वाले की प्रभु कभी नहीं सुनता। हमें शुभकामनाएं करनी चाहिए। सामवेद की वाणी पर ध्यान करें –

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ (सा0 पू0 1/6/2)

परमब्रह्म परमात्मा हमें प्राप्त हो। सत्यमय वेद विद्या हमें प्राप्त हो। मानव का कल्याण करने वाला यज्ञ हम हमेशा करते रहें।

मन्त्र में सुन्दर चर्चा है कि हम हमेशा प्रभु प्राप्ति की अभिलाषा करते रहें तथा वेद विद्या की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहें। महर्षि अपने स्वर्णिम सूत्र में लिखते हैं – **"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।"** क्योंकि वेद ही समस्त विद्याओं इहलौकिक-पारलौकिक ज्ञान- विज्ञान, राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक, आयुर्वेद, धनुर्वेद, चिकित्साशास्त्र, यानादि समस्त विद्याओं का अथाह भण्डार है, जिससे ज्ञान प्राप्त कर समस्त विश्व का कल्याण हो सकता है।

आगे मन्त्र में कितनी सुन्दर प्रार्थना है – समस्त देव जिससे प्रसन्न होते हैं, जिससे समस्त वातावरण पवित्र और श्रेष्ठ बन जाता है, वह श्रेष्ठतम कार्य यज्ञ हमेशा करता रहूं। जिसकी महिमा विशाल है, परमात्मन् ! मैं यज्ञ से कभी विमुख न होऊं। श्रीकृष्ण जी ने भी गीता में यज्ञ की महिमा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है –

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(गीता 3-10, 13)

वेद भी कहता है– **"केवलाघो भवति केवलादी"** यज्ञ करके भोजन करनेवालो को पाप छोड़ जाते हैं। आगे लिखते हैं –

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

(गीता 3/14)

प्राणी अन्न से पैदा होते हैं। अन्न ही महत्ता बादलों से होती है और बादल यज्ञ से ही महत्ता प्राप्त करते हैं। अतः यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है। शतपथ-ब्राह्मणकार भी कहता है -

यज्ञो वै विष्णुः ॥ (शत0 ब्रा0)

यज्ञ मनुष्य की समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है।

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में महर्षि लिखते हैं कि -

"जब तक इस होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाए।"

सत्य है, यदि घर-घर में यज्ञीय परम्परा चल पड़े तो आज जो कौरोना जैसी बीमारियां आ रही हैं, वो न आने पायें। सभी रोगरहित होवें। हमें ऐसी प्रार्थना प्रतिदिन करते रहना चाहिए, तब उस प्रार्थना का फल हमें मिलेगा - अभिमान का नाश और आत्मा में प्रसन्नता रहेगी। जब अभिमान नष्ट हो जायेगा, तो फिर प्राणीमात्र के प्रति दृष्टिकोण हमारा स्वाभाविक रूप से बदल जायेगा। हम आपस में सबसे प्रेम करेंगे और हमारा प्रेम, हमारी प्रार्थना और सद्भावना से इस प्रकार बढ़ेगा कि फिर हम कहेंगे -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

हे ईश ! सब सुखी हों, कोई न रोगधारी।
सब हों निरोग भगवन्, धन-धान्य के भण्डारी।
सब भद्रभाव देखें, सन्मार्ग के पथिक हों।
दुःखिया न कोई होवे, सृष्टि में प्राणधारी॥

सदुपयोगिता का महत्त्व

आचार्य श्याम

उत्तरप्रदेश के मैनपुरी जिले के अन्तर्गत रुरिया नामक एक गांव है। उस गांव के बाहरी छोर पर एक साधु आश्रम बनाकर वहां रहा करता था। साधु कोई पाखण्डी साधु नहीं था, वह वैदिकधर्मी तथा समाज-सुधार की भावना रखने वाला पूर्ण ईश्वरभक्त संन्यासी था। प्रातः-सायं यज्ञ-जप-तप में समय व्यतीत कर, शेष समय गांव के नागरिकों व बच्चों को सदुपदेश द्वारा सुधारकार्य में अपना समय व्यतीत करता। जो कोई उसको यथाशक्ति खाने-पीने के लिए रूखा-सूखा दे जाता, उसी से अपने जीवन का निर्वाह करता। गांव वालों की श्रद्धा उन साधु महाराज पर इतनी अगाध थी कि वे उसको भगवान् की तरह मानते थे और उनकी बातों को सदा जीवन में पालन करने का प्रयत्न करते थे।

एक दिन की बात है कि उस साधु की प्रतिष्ठा सुनकर, सदुपदेश प्राप्त करने की इच्छा से एक नवयुवक उस आश्रम में आया। उसने साधु को प्रणाम किया और अपने जीवन के कल्याण के लिए कुछ सदुपदेश की प्रार्थना की। साधु ने कहा- पुत्र ! तुम इतनी दूर से आये हो, पहले पानी पीओ, विश्राम करो, हम जब आवश्यक समझेंगे तब कुछ तुम्हारे कल्याण का उपदेश दे देंगे। इतना कहकर साधु महाराज ने अपनी झोली में से एक सन्तरा निकाला और उस युवक को खाने के लिए दे दिया। उस युवक ने सन्तरे को छीला, उसकी फांकों के रस को चूसा और शेष भाग सामने मैदान में फेंकने लगा। साधु ने कहा - वत्स! तुम इन फांकों को मिट्टी में मत फेंको, बेकार हो जायेंगी। तुम उनको इस कागज़ पर रख दो, शायद किसी के काम आ जायें। साधु की बात सुनकर उस नवयुवक को आश्चर्य हुआ कि- चूसी हुई फांकें अब किसके काम आयेंगी ? साधु की बात का प्रत्युत्तर न देते हुए उसने साधु के आदेश का पालन कर, चूसी हुई फांकों को एक कागज़ पर रख दिया। जब सन्तरा उस युवक द्वारा पूरा चूसा जा चुका तो साधु ने कहा - पुत्र ! इस कागज़ को बाहर आंगन में रख दो। उस युवक ने उस काग़ज को बाहर रख दिया। अभी वह युवक कागज़ रखके साधु की ओर लौटा ही था कि एक कौआ आया और उन चुसी हुई फांकों को उठा करके ले गया। तब साधु ने कहा - पुत्र ! जिसको तुम व्यर्थ समझ रहे थे, वह व्यर्थ नहीं था। अभी इससे कितने प्राणियों का पेट भर सकता है। मेरा उपदेश यही है कि किसी वस्तु का उपयोग उसकी अन्तिम सीमा तक करो। अन्यथा भगवान् की कृपा का अपमान होगा। साधु का सांकेतिक उपदेश उस युवक की समझ में आ गया और वह साधु के चरणों में प्रणाम कर, अपने घर को प्रस्थान कर गया।

सु-संस्कार की महत्ता

शिवचरण दास
मुम्बई (महाराष्ट्र)

लगभग 16 वर्ष के कुन्दन ने एक दिन देखा कि उसके दादा जी ने अपनी डाक देखते हुए एक लिफाफा खोला, और उसके पत्रों को देखते ही उन सबको फाड़कर रद्दी की टोकरी में फैंक दिया। कुन्दन दादा जी द्वारा पत्रों को नष्ट करते देखकर बहुत चकित हुआ। उसे उत्सुकता हुई और उसने थोड़ा हिचकिचाते हुए दादा जी से पूछ ही लिया - "दादा जी ! आपने ये पत्र नष्ट क्यों कर दिये हैं। ये पत्र कैसे हैं ?" दादा जी ने कुन्दन के प्रश्न को उद्दण्डता के भाव में नहीं लिया और न हीं वे कुन्दन पर ज़रा भी क्रोधित हुए; बल्कि सच्ची जिज्ञासा को समझकर, पहले तो वे सहानुभूतिपूर्वक मुस्कराये और फिर बोले- "बेटा ! क्या तुम इन पत्रों के विषय में जानते हो। यदि नहीं, तो टोकरी के फटे पत्रों का उठाकर देखो कि इन पर क्या लिखा है ?"

कुन्दन ने अपने दादा जी की आज्ञानुसार फटे पत्र के टुकड़े उठाये और किसी प्रकार उनको जोड़कर पढ़ने का प्रयत्न किया। उन पत्रों पर रैफल शब्द छपा हुआ था। कुन्दन समझ नहीं पाया कि रैफल क्या होता है। उसने जिज्ञासावश पुनः दादा जी से पूछा - "दादा जी ! इन पत्रों पर रैफल शब्द लिखा है, पर मैं समझा नहीं कि रैफल क्या होता है ?" दादा जी ने कुन्दन के चेहरे पर जिज्ञासा का भाव पढ़ा और सन्तुष्ट करने की इच्छा से बोले - बेटा कुन्दन ! यदि तुम सचमुच ही रैफल के विषय में नहीं जानते हो, तो यह बहुत अच्छा है।" दादा जी की बात सुनकर कुन्दन भोलेपन के साथ बोला - "दादा जी ! मैं तो रैफल का नाम ही पहली बार सुन रहा हूं।" कुन्दन की बात सुनकर दादा जी ने उसके सिर पर प्यार भरा हाथ फेरा और बोले - "बेटा ! यह रैफल एक प्रकार का सभ्य जुआ है। इसका कम से कम सौ रुपये का टिकट खरीद कर कोई भी इसमें भाग ले सकता है। रैफल चलाने वाले सब टिकटें मिलाकर लाटरी निकालते हैं। जिसके नाम का टिकट निकलता है, उसे लाखों-करोड़ों रुपये मिलते हैं। शेष टिकट खरीदने वाले अपना रुपया खो बैठते हैं, अर्थात् हार जाते हैं। अब तुम बतलाओ कि - बिना मेहनत किये हुए हमें लाखों-करोड़ों रुपये लेने का क्या हक़ है और यह कहां तक न्यायसंगत है?" कुन्दन थोड़ा सोचने के बाद सहमति प्रकट करते हुए बोला - "हां दादा जी ! आप ठीक ही कहते हैं कि बिना मेहनत के किये किसी को भी धन लेने का हक़ नहीं है।"

उस दिन की यह घटना तो वहां समाप्त हो गई, परन्तु दादा जी के शब्द कि -'रैफल जुआ है, बिना मेहनत किये हमें धन प्राप्त करने का क्या हक़ है ?' ये शब्द कुन्दन के अन्तःकरण

पर गहरे अंकित हो गए थे। फलतः उसने जीवन में कभी किसी प्रकार का जुआ न खेलने और बिना मेहनत किये कहीं से भी धन न लेने के नैतिक गुण को, जिसका बीज आर्य-स्कूल में पाई शिक्षा से तथा माता-पिता के उच्च जीवन से कुछ पहले से भी पड़े हुए थे, अब पूर्णतया अपनाने तथा पालन करने का उसने दृढ़ निश्चय कर लिया। इस सुसंस्कार के फलस्वरूप कई वर्ष बाद एक और महत्त्वपूर्ण तथा विस्मयकारक घटना घटी।

कुन्दन के दफ्तर में एक मण्डली बनी थी, जिसका उद्देश्य सदस्यों को आवश्यकता के समय धन उधार देना था। मण्डली का कोष सदस्यों ने आपस में मिलकर इकट्ठा किया था। उसकी कार्यकारिणी सभा का वह भी एक सम्मानित सदस्य था। एक सदस्य ने एक बार ऐसा सुझाव दिया कि - कोष बढ़ाने के लिये मण्डली के नाम पर डरबी-घुड़दौड़ के टिकट खरीदने चाहिये। परन्तु कुन्दन ने अपने नियमानुसार इस सुझाव का कड़ा विरोध किया, यद्यपि कार्यकारिणी सभा के अन्य सब सदस्य सुझाव के पक्ष में थे।

तब सब सदस्यों की आम-सभा की गई, जिसमें सबने उसे सुझाव से सहमत करने का पूरा यत्न किया, परन्तु उसे वे सब सहमत न कर पाये। उसने भी सदस्यों को अपने विचारों के अनुसार दोष दिखलाते हुए इस सुझाव को त्याग देने के लिये बहुत चेष्टा की, परन्तु उन्होंने सुझाव त्यागने से इन्कार कर दिया। अन्त में कुन्दन ने सदस्यों से कहा - "मित्रो ! मैं अपनी मान्यता और नियम पर अटल विश्वास के कारण आपके सुझाव से सहमत नहीं हो सकता। मैं तो घुड़दौड़ में भाग्य-परीक्षण को जुआ ही मानता हूं और मैंने कभी जुआ में भाग नहीं लिया है। मैं भविष्य में भी जुआ में भाग लेना नहीं चाहता। यदि आप सबका डरबी-घुड़दौड़ के टिकट खरीदने का इतना आग्रह है तो मैं आप लोगों के कार्य में बाधक नहीं बनूंगा, बल्कि मैं स्वयं मण्डली से अलग हो जाना ही उचित समझूंगा। तब आप लोगों की जैसी इच्छा हो, कर सकते हैं।"

कुन्दन के सत्य-नियम पर अटल रहने का सब सदस्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे कहने लगे - "हम तुम्हें छोड़ नहीं सकते।" तब उसने कहा - "आप सबके प्रेम और श्रद्धा के लिये मैं बहुत आभारी हूं। परन्तु आपके इस अनैतिक विचार को त्याग देने पर ही मैं मण्डली का सदस्य बना रह सकता हूं।" अन्त में सबने कुन्दन का अनुसरण करते हुए उस विचार को त्याग दिया और फिर कभी अनैतिक ढंग से कोष बढ़ाने की बात नहीं सोची।

इसी प्रकार अन्य विशेष अवसरों पर भी कुन्दन को इस नैतिक नियम पर अटल रहने में सफलता मिली। उनमें से दो उदाहरणों का यहां मैं वर्णन कर रहा हूं -

(1) कलकत्ता में एक बहुत बड़ी क्लब में जब ताश का खेल रुपये-पैसों की बाजी लगाकर खेलने की अनुमति मिली, तब उसने सब प्रकार का मोह छोड़कर वह क्लब ही त्याग दिया था।

(2) कई वर्ष बाद, जब वह कुन्दन मुम्बई में बहुत ऊंचे स्तर का अधिकारी बना तो अपने साथी-अफसरों के प्रलोभन दिखलाने पर भी उसने कभी बाजी लगाकर ताश खेलना, जुआ-सट्टा खेलना स्वीकार नहीं किया। वह केवल हर प्रकार के जुए से ही अपने को बचाता नहीं रहा, बल्कि उच्चपद पर रहते हुए अपना काम बहुत गम्भीरता, दक्षता, कड़े परिश्रम और पूरी जिम्मेदारी से समयानुसार करता रहता था, ताकि वह वेतन पाने का वास्तविक अधिकारी बना रह सके।

इस प्रकार छोटी-सी घटना के शुभ संस्कार के बीजारोपण के फलस्वरूप न केवल 'कुन्दन' ही वास्तविक रूप में कुन्दन बना, बल्कि अनेक व्यक्तियों के जीवन पर भी इस संस्कार का प्रभाव पड़ा, जिससे उन सबको सुख और शान्ति मिली।

प्रत्येक माता-पिता को चाहिये कि वे सन्तान के प्रति अपना कर्त्तव्य समझकर सदा अपनी सन्तानों पर शिक्षा तथा निजी अच्छे आचार, विचार और व्यवहार से उनके बचपन से ही शुभ संस्कार अंकित करने के लिये समय निकालें और छोटे-छोटे बच्चों को संस्कारित करने का प्रयत्न करें, जिससे उन बालकों के संस्कार युवावस्था आने तक पूर्णता के साथ परिपक्व हो जायें, जिससे उनके स्वयं के जीवन में तथा समाज और संसार में सुख, शान्ति और आनन्द की वृद्धि होती रहे, और अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार एवं दुर्गुणों का सदैव विनाश होता रहे। ❐

माइग्रेन का घरेलू उपचार

आचार्य श्याम

* तिल आधा चम्मच, वायविडंग चूर्ण एक चम्मच पानी के साथ मिलाकर पीसें और सिर पर लगायें, माइग्रेन (आधाशीशी का दर्द) ठीक होगा।

* लहसुन का रस हींग मिलाकर शीशी में रख लें। एक-एक बूंद नाक के नथुने में डालने से माइग्रेन दूर होगा।

* रीठे की छाल को भिगोकर मसल, छानकर रख लें। नाक के नथुने में एक-एक बूंद डालने से माइग्रेन का दर्द दूर होगा।

* हींग को पानी में मिलाकर आग पर गुनगुना कर लें। उसको कनपटियों पर लगाने से माइग्रेन का दर्द समाप्त होगा।

* सौ ग्राम अंगूर का रस प्रतिदिन पीने से माइग्रेन का दर्द कुछ समय बाद समाप्त हो जाता है।

* देशी घी की जलेबी का गाय के दूध के साथ प्रातः नाश्ते में सेवन करने से माइग्रेन का दर्द समाप्त हो जाता है।

* भांगरे के रस में बकरी का दूध मिला कर धूप में गरम कर लें। इसमें कुछ कालीमिर्च का चूर्ण डालकर सिर पर मलने से माइग्रेन का दर्द समाप्त हो जाता है।

* सूरजमुखी के बीज का चूर्ण 5 ग्राम। उस चूर्ण को सूरजमुखी के रस में मिलाकर घोटें और मस्तिष्क पर लगायें, माइग्रेन व सिरदर्द समाप्त होगा।

* गाजर का हलवा शहद मिलाकर खाने से माइग्रेन का दर्द समाप्त हो जाता है।

* तुलसी के पत्तों का रस नारियल के तेल में मिलाकर लगाने से माइग्रेन व सिरदर्द समाप्त हो जाता है।

* तम्बाकू के पत्तों में लौंग मिलाकर पीस लें और उस पेस्ट को सिर पर लगायें, निश्चित ही माइग्रेन का दर्द समाप्त होगा।

* वच का चूर्ण प्रतिदिन शहद के साथ सेवन करने से माइग्रेन का दर्द समाप्त हो जाता है। ❐

मानवमात्र का उद्धारक - महर्षि दयानन्द

कालीचरण आर्य
शास्त्री नगर, मेरठ (उत्तर प्रदेश)

भारतवर्ष की दशा आज से डेढ़ शताब्दी पूर्व जो थी, वह किसी से छिपी नहीं थी। वह अत्यन्त शोचनीय और अधोगति को प्राप्त हो चुकी थी। पराधीनता, पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी। मस्तिष्क अपनी भलाई और बुराई का अन्तर करने में असमर्थ हो चुका था। परमार्थ की जगह स्वार्थ ने और विद्या के स्थान में अविद्या ने अपना डेरा जमा लिया था। इस अविद्यारूप भूमि में सभी क्लेश फल-फूल रहे थे। ऐसी दशा में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपना काम आरम्भ किया, गुरु की आज्ञा पालनार्थ देश-देश में भ्रमण किया। उन्होंने और जो कुछ किया, वह सब आपको भलीभांति विदित है।

महर्षि के अद्‌भुत कार्य को देखकर इसमें किसी को भी सन्देह नहीं कि महर्षि ने इस अल्पकाल में जितना काम किया, वह किसी अन्य व्यक्ति से कदाचित् शताब्दियों में भी न होता। भारत की संस्कृति को और उसके बहुमूल्य सम्पत्ति-साहित्य को, जिसमें किसी देश और जाति की संस्कृति सुरक्षित रहती है, मिटाने के लिये सभी उपाय काम में लाये जा चुके थे। साहित्य को दरिया में बहाना, अग्नि में जला देना अथवा भूमि में दबा देना, उसमें मिलावट कर देना और उसके नाम से अन्य साहित्य उपस्थित कर देना इत्यादि सभी कुछ किया गया। महर्षि ने अपने जीवनकाल में जितना-जितना अधिक कार्य किया, उतना ही उतना अधिक उनका विरोध बढ़ता गया। यहां तक कि देश का चप्पा- चप्पा उनका विरोधी हो गया। परन्तु फिर भी ऋषि के ऋषिपन का ऋषि के तप और त्याग का, विद्या और वैराग्य का प्रभाव था कि देश के कुछ सुसंस्कृत हृदय मनुष्यों ने उनकी बात को सुनकर अपनाया और उनके अनुयायी बने। महर्षि ने देश और देशान्तर में क्रान्ति की और न केवल धार्मिक जगत् में, अपितु राजनैतिक और सामाजिक जगत् में भी वह क्रान्ति की, जिसका महर्षि से पूर्व किसी ने विचार तक भी नहीं किया था। देश में अनेक प्रथाओं ने अपना घर कर लिया था। छोटे-छोटे बच्चों को, जिनको किसी प्रकार का भी बोधन न था, संन्यासी के रूप में भिखारी बनाकर देश को तबाह किया जा रहा था। वैराग्य के झूठे राग अलापकर मनुष्यों को कर्त्तव्यों से च्युत किया जा रहा था। गृहस्थों के हृदयों में यह भावना घर कर गई थी कि - गृहस्थ नरक का धाम है; और कोई भी गृहस्थी अपने आपको प्रभु तक ले जाने में समर्थ नहीं हो सकता। धर्म का ठेकेदार एक विशेष जाति को मान लिया गया था, जिसके अतिरिक्त किसी और को धर्मकार्य करने का अधिकार नहीं था और न धर्म के उच्चतम ग्रन्थों को पढ़ने का सर्वसाधारण को अधिकार

था। धर्म विशेष स्थान की वस्तु बन चुकी थी और प्रत्येक यह समझता था कि धर्म उस ही विशेष स्थान पर जाकर किया जा सकता है, उसकी चहारदीवारी से बाहर मनुष्य स्वतन्त्र है, जो चाहे सो करे। इसी के परिणाम स्वरूप व्यापारी अपने व्यापार में, राज्य कर्मचारी अपने कार्यों में अपने आपको इस सीमा तक स्वतन्त्र समझने लगे थे कि हम जो भी करेंगे, वह थोड़ा है। उनका विचार था कि धर्म के ठेकेदारों को किसी विशेष स्थान पर बिठाकर कुछ थोड़ा-सा धन देकर उल्टा-सीधा ईश्वर को बहकाया जा सकता है, और अपने किये हुए उचित-अनुचित सभी कार्य उस कराये हुए धर्मकार्य से क्षम्य हो जाते हैं।

महर्षि ने वेदों से ही संसार को बतलाया कि मनुष्य को अपने किये हुए कर्म का फल भोगना पड़ेगा। ठेकेदारों के द्वारा कराये हुए पाप या पुण्य का फल हमारे किसी अच्छे या बुरे कर्म को प्रभावित नहीं करता। धर्म किसी विशेष स्थान पर ही नहीं होता, अपितु मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षण में किये हुए कर्म का सम्बन्ध धर्म और अधर्म के साथ होता है। धर्म किसी चहारदीवारी में किसी महान् या व्यक्ति के साथ बंधा हुआ नहीं है, यह सर्वत्र व्यापक है और प्रत्येक मनुष्य, जो भी और जहां भी करता है उसका सम्पर्क धर्म से है। महर्षि ने यह भी बतलाया कि यह धर्म ईश्वर ने हमें सृष्टि के आरम्भ में प्राणिमात्र के कल्याण के लिये दिया। जिस प्रकार प्रभु की अन्य वस्तुओं के उपभोग का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है, सूर्य के प्रकाश को, मन्द-मन्द और सुगन्ध वायु को प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता से भोगता है, उसी प्रकार ईश्वर के दिये वेदों का प्रयोग भी करने में मनुष्य स्वतन्त्र है। और इस प्रकार वेद के पढ़ने का अधिकार केवल व्यक्ति या जाति को नहीं है, बल्कि प्रत्येक मनुष्य यदि वह उससे लाभ उठाने की क्षमता रखता है तो लाभ उठा सकता है। वेदज्ञान के आधार पर महर्षि ने बतलाया कि गृहस्थाश्रम महान् आश्रम है। गृहस्थ को नरकधाम समझना भूल है। मनुष्य के अन्दर कुछ स्वाभाविक इच्छायें हैं, जैसाकि ऋग्वेद मण्डल सात, सूक्त 55, मन्त्र 5 में बतलाया है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह संसार में अधिक से अधिक काल तक जीवित रहे, न केवल जीवित ही रहे, अपितु बलशाली होकर जीवे और उत्तम गृहस्थी होकर जीवे। सन्तान की इच्छा किसी प्राणी को नहीं है। अच्छे गृहस्थी के लिये जहां आयु, बल और प्रजा की इच्छा है, वहां यह भी स्वाभाविक है कि वह उत्तम-उत्तम पशुओं की कामना भी करे। वह गृहस्थ भी क्या गृहस्थी है, जिसके हृदय में यह कामना न हो कि वह संसार में नेकनामी अर्थात् यश और कीर्ति को प्राप्त करता हुआ दीर्घजीवी बने। गृहस्थ को जहां यश और कीर्ति की आवश्यकता होती है, वहां उसको जीवन-यापन के लिए अन्न की भी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये अन्य इच्छाओं के साथ-साथ गृहस्थी के वास्ते धन की भी अत्यन्त आवश्यकता है। सद्गृहस्थ के लिये जहां उपरोक्त समस्त वस्तुओं की आवश्यकता है, वहां ये सब वस्तुएं गृहस्थ के लिये तभी लाभदायक हैं जबकि इन सब चीज़ों का प्रयोग गृहस्थ में ब्रह्मवर्चस को उत्पन्न करनेवाला हो। यह चीज़ गृहस्थ में तभी

उत्पन्न हो सकती है, जबकि वह अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति के लिये उत्तम साधनों का प्रयोग करे और निकृष्ट तथा अधम साधनों का परित्याग करे। गृहस्थ आश्रम भी ऐसा आश्रम है, जिसमें मनुष्य को ब्रह्मलोक तक पहुंचने के साधन प्राप्त हो सकते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, जो समाज के बिना जीवित नहीं रह सकता। समाज में रहकर ही अपनी प्रत्येक इन्द्रिय का प्रयोग करता है और प्रयोग करने का साधन प्राप्त करता है। एकाकी मनुष्य तो वाणी रखते हुए भी बोलने की शक्ति को सर्वथा के लिये खो देता है। समाज ही वह स्थान है जिसमें मनुष्य अपने मनुष्यत्व का प्रयोग करता है, और अपने को मनुष्य बनाने का प्रयत्न कर सकता है। मनुष्य गृहस्थाश्रम के अन्दर उत्तम सामाजिक व्यवहारों से अपनी समस्त स्वाभाविक इच्छाओं को प्राप्त करने में समर्थ होता है, और उसी गृहस्थ में उन सामाजिक इच्छाओं को प्राप्त करने के पश्चात् उनका सदुपयोग कर सकता है। गृहस्थाश्रम यद्यपि ब्रह्मचर्याश्रम पर अवलम्बित है, परन्तु ऊपर के दोनों आश्रम अर्थात् वानप्रस्थ और संन्यास इसी एक आश्रम के आश्रित हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम जहां सब आश्रमों की बुनियाद है, वहां इसके लिये परम आवश्यक है कि यह अपने आपको गृहस्थाश्रम से सर्वदा पृथक् रक्खे। उत्तम गृहस्थ तभी बन सकता है जबकि गृहस्थ और ब्रह्मचर्य आश्रम पृथक्-पृथक् रहें। दोनों आश्रम एक-दूसरे के बिल्कुल विरोधी हैं, साथ ही परम सहायक भी हैं। देश ने आज दोनों की समस्याओं को भली प्रकार न समझकर ही ठोकरें खाई हैं, और न जाने कब तक दुर्भाग्यवश हम ठोकरें खाते रहेंगे। आशा तो यह भी कि महर्षि दयानन्द के महान् उपकार को मानकर देश के नेता और शिक्षा-संचालक यह बात अनुभव कर लेते कि गृहस्थाश्रम को किस प्रकार ऊंचा बनाया जा सकता है।

महर्षि ने अपने अमूल्य ग्रन्थ **'सत्यार्थ प्रकाश'** के आरम्भ के ही समुल्लासों में इस बात पर बल दिया है और बतलाया है कि किस प्रकार आरम्भ से ही अर्थात् मनुष्य के जीवनकाल से ही किसी को सद्गृहस्थी बनाने का यत्न किया जाता है। सद्गृहस्थी बनने के लिये जहां बाह्य साधनों की आवश्यकता है, वहां मनुष्य के अपने अन्दर के विचार और भावनाओं का शुद्ध और पवित्र होना अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि ने बड़ी सुन्दरता से बतलाया है कि मनुष्य का आचार और व्यवहार दृढ़ करने के लिये अच्छे संस्कारों की आवश्यकता है। संस्कार ही हैं जो मनुष्य को मनुष्य बना सकते हैं, और मनुष्य से देवता, ऋषि और महर्षि बन जाते हैं। अविद्या के कारण संस्कारों की महानता को न जानकर संस्कारों से विमुख हो बैठे। संस्कार ही कर्मों में प्रवृत्ति कराने वाला होता है। संस्कारों के लिए अच्छे और बुरे होने का परिणाम अच्छा और बुरा मनुष्य होता है। संस्कारों की महानता को बतलाने के लिए महर्षि ने **'संस्कारविधि'** जैसा अमूल्य ग्रन्थ रत्न देकर जनता के साथ जो उपकार किया है, वह किसी से छुपा नहीं है। संस्कार ही मनुष्य को अगले जन्म में जन्म लेते ही कर्म में लगा देता है, जो इस बात का द्योतक होता है कि नवजात बालक ने अब से

पूर्व कहीं कुछ कर्म किया है। संस्कारों का विशेष प्रभाव मनुष्य की जीविका पर पड़ता है। मनुष्य को संस्कार कर्म की ओर ले जाते हैं, लेकिन संस्कार भी मनुष्य के कर्म से ही बनते हैं। संस्कार बनाने में मनुष्य की जीविका अपना विशेष प्रभाव रखती है।

आज देश में इस जीविका पर ध्यान देने के कारण घोर से घोर पाप करने में भी मनुष्य नहीं चूकता। गोहत्या जैसे पाप का कारण आज विशेष रूप से जीविका ही है। आज तो देश के अधिकांश व्यक्तियों ने यहां तक समझा हुआ है कि बिना पाप किये हुए जीविका उपार्जन करना असम्भव है। उसका ही मनुष्य पर यह प्रभाव है कि पाप करते समय मनुष्य अपने अन्तःकरण की आवाज़ को नहीं सुन पाता और दिन-प्रतिदिन जीविका के प्रश्न को अत्यन्त जटिल बनाते हुए कुसंस्कारों की पापरूपी गठरी सिर पर लादे फिरता है। कुसंस्कार आज मनुष्य को उत्तम गृहस्थ बनने में बाधा डाल रहे हैं।

मनुष्य भी क्या करे ? व्यक्ति समाज से प्रभावित होता है। व्यक्ति निःसन्देह समाज को बनाने वाला तो होता है, परन्तु व्यक्तियों की रक्षा समाज से होती है। यदि यूं कहा जाय तो कुछ असत्य न होगा कि समाज से भी जीविका रक्षा और जीविका रक्षा से सदाचार रक्षा और सदाचार रक्षा से ही गृहस्थ रक्षा होती है। समाज रक्षा जहां समाज के हाथ में है, वहां बहुत कुछ राज्य पर भी निर्भर है। राज्य का ध्यान यदि समाज सुधार की ओर हो जाये, और वह अपना पूर्ण बल अपने स्वार्थ को छोड़कर समाज-सुधार में लगावे तो संसार के कल्याण में सन्देह न रहे। एक ओर व्यक्ति अपनी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक सुधार की ओर अपने शुभ संस्कारों से प्रवृत्त हो और दूसरी ओर राज्य अपनी पूर्ण शक्ति से समाज को बल दे कि वह व्यक्तियों को अपने-अपने कल्याण की भावनाओं को ऊंचा बनाने में सहायक हो। उसी समाज से जो राज्य द्वारा सुरक्षित किया गया हो और उन्हीं व्यक्तियों से जिन्होंने समाज और राज्य से रक्षा पाई है, राष्ट्र भी बलशाली बनता है और सुरक्षित होता है।

महर्षि ने अपनी महान् कृपा से यह भी बतलाया कि जब संसार के अन्दर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र स्वस्थ और सुरक्षित होते हैं, बलशाली और परमार्थी होते हैं, तभी मनुष्यों के संस्कार ऊंचे होकर मनुष्यों को परलोक की ओर प्रवृत्त कराते हैं, और मनुष्य परलोक चिन्ता के साथ-साथ सर्वप्रथम सृष्टि उत्पत्ति की चिन्ता करता है। सृष्टि उत्पत्ति का विचार, उसके कारण और साधन का विचार ही परलोक का विचार है। महर्षि की महान् कृपा से इस अधोगति को प्राप्त समय में भी कुछ परलोक-विचारक कभी-कभी अपने विचार संसार के सामने रखते हैं। महर्षि के आगमन से पूर्व परलोक के सम्बन्ध में क्या-क्या अनर्गल विचार थे, जिसकी कोई सीमा नहीं। सृष्टि के सम्बन्ध में देश में इतने अनोखे और भिन्न विचार थे, जिसकी कोई सीमा नहीं। अनेकों विद्वानों का विचार था कि यह संसार प्रथम ही बार बना है, और जो भी प्राणी इसमें आता है, नवीन ही आता है। प्रभु ने प्रत्येक प्राणी में जो विभिन्नता रक्खी है, वह अपनी इच्छा से ही सबमें

उपस्थित की है। इस भिन्नता के लिए किसी कारण को तलाश करने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, उनका विचार था कि वस्तुएं भी संसार के अन्दर अपनी ही इच्छा से उत्पन्न होती हैं। यदि उनसे यह पूछा जाये कि सृष्टि उत्पन्न करने में प्रभु की कौन-सी गरज़ छिपी हुई थी, तो वे उत्तर देने में असमर्थ हैं। यदि यह पूछा जाये कि जब प्रभु की अपनी कुछ गरज़ न थी तो किसके लिए सृष्टि रची। क्योंकि प्रभु के अतिरिक्त कोई दूसरा न था, तो कोई उत्तर नहीं है। इसी प्रकार और अनेक सज्जन थे और हैं, जो कहते हैं कि सृष्टि स्वरूप से अनादि है, और इसका बनाने वाला नहीं है। परन्तु जब उनसे पूछा जाय कि संसार में वस्तुएं बनती और बिगड़ती दृष्टिगोचर होती हैं, तो किस प्रकार माना जाय कि सृष्टि स्वरूप से अनादि है, इसका भी उत्तर कुछ नहीं आता। इस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में संसार में अनेक भ्रमोत्पादक विचार फैले हुए थे। महर्षि ने अपनी कृपा से संसार को इस भ्रम से निकालकर सीधे मार्ग पर डाला और बतलाया कि संसार में ईश्वर, जीव और प्रकृति सदा से हैं और सदा रहेंगे। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मों के फल भोगने में परतन्त्र है। परमात्मा के नियम और व्यवस्था से जीवात्मा अपने कर्मों के फल को भोगता है, प्रकृति जीवात्मा के लिए कर्म करने और फल भोगने में साधन है। प्रभु इस संसार के रक्षक जीवों के कल्याणार्थ नाना प्रकार की वस्तुओं को रचता है, और बार-बार उन्हें कर्म करने का अवसर देता हुआ उन्हें आदेश देता रहता है कि - शुभ कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करो। शुभ संस्कारों से प्रभावित होकर शुभ कर्मों में प्रविष्ट होकर सौ वर्ष और इससे भी अधिक आयु को प्राप्त करके परलोक प्राप्ति के अधिकारी बनो। शुभ संस्कारों से सुसंस्कृत होने के लिए गृहस्थ में रहनेवाले मनुष्यों, संसार के प्राणियों के साथ अहिंसात्मक कर्म करो। किसी को मन-वचन- कर्म से पीड़ा न दो। दूसरों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करो, जैसा तुम चाहते हो कि तुम्हारे साथ किया जाय। अपने आपको वैसा बनाओ, जैसाकि तुम चाहते हो कि संसार तुमको समझे। अगर तुम चाहते हो कि संसार तुम्हारा विश्वास करे तो सदा सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में उद्यत रहो। यदि तुम चाहते हो कि संसार तुम्हारा मान करे तो तुम अपने आपको मान के योग्य बनाओ और दूसरों का उचित आदर-मान करना सीखो। महर्षि ने हमें बतलाया कि यदि तुम अपनी उन्नति चाहते हो तो संसार की उन्नति करना सीखो और संसार की उन्नति में अपनी उन्नति समझो।

महर्षि के उपकार मैं कहां तक गिनाऊं। उनका जीवन उपकारों से भरा हुआ है और महर्षि ने हमें अन्तिम समय तक न केवल यह सिखलाया कि हम किस प्रकार जीवित रहें, बल्कि मरते समय भी हमें यह सिखलाया कि मनुष्य को किस प्रकार मरना चाहिये। निःसन्देह यही नहीं कि हमें जीना नहीं आता, हमें तो मरना भी नहीं आता। इसलिये हमें महर्षि के जीवन से कुछ सीखने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रभु हमें बल दे कि हम उनके जीवन से कुछ सीख सकें। ❐

समुन्नति का आधार - सदाचार

तारा शर्मा
प्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा, नई दिल्ली

कभी हम बचपन में पढ़ा करते थे - **"सतां आचारः सदाचारः कथ्यते"** सज्जन पुरुषों का आचार ही सदाचार कहा जाता है। संस्कृत भाषा का थोड़ा-सा भी ज्ञान रखनेवाला समझता है कि सदाचार शब्द में दो शब्दों का मेल है - सद्+आचार। बचपन में शायद हमें सदाचार शब्द का अर्थ समझ नहीं आता था, पर जैसे-जैसे बड़ी कक्षाओं की पढ़ाई की, बुद्धि का विकास हुआ, तब हमारी समझ में आया कि - सदाचार = श्रेष्ठ पुरुषों के आचार को कहा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषों का आचार-विचार-व्यवहार, सब कुछ श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ होता है। प्रातः से लेकर रात्रि तक वे जो भी कार्य करते हैं, उनके प्रत्येक कार्य में श्रेष्ठता विद्यमान रहती है। उनका कोई भी कार्य क्यों न हो, सामान्य मनुष्य के कार्य से पृथक् होता है। ऐसा नहीं कि सामान्य मनुष्य श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ को नहीं समझता। अरे, जिसे अच्छा कहते हैं वह श्रेष्ठ है और जिसे बुरा कहते हैं वह अश्रेष्ठ है। अच्छे-बुरे का विवेक परमात्मा ने प्रत्येक प्राणी को दे रखा है। आप किसी गाय व कुत्ते को प्रेम करें और उसकी प्रतिक्रिया को देखें, आप उससे घृणा करें, उसे दुत्कारें या मारें, तब आप उसकी प्रतिक्रिया को देखें, दोनों में आपको अवश्य अन्तर दिखाई पड़ेगा। कुत्ते के सामने आप रोटी का टुकड़ा डाल दें, वह कुत्ता पूंछ हिलायेगा और आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करेगा। इसके विपरीत आप उसको धमकायें या मारें तो वह भौंककर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करेगा। आप कबूतरों को दाना डालें, अगले दिन आपको देखते ही कबूतर दाना खाने आ जायेंगे, इसके विपरीत आप उनको भगाने का प्रयत्न करें तो वे आपको देखकर ही उड़ने का प्रयत्न करेंगे। जब अच्छे-बुरे की समझ इन छोटे-छोटे प्राणियों में है, तो क्या मनुष्य में अच्छा-बुरा अन्तर करने की बुद्धि नहीं है ? अवश्य है। किसी मनुष्य की आप प्रशंसा करें तो वह उसको अच्छा मानता है। इसके विपरीत आप उसको अपशब्द कहें तो उसका वह बुरा मानता है। निष्कर्ष यह निकला कि अच्छे और बुरे का अन्तर करने की बुद्धि प्रत्येक मनुष्य के पास है। फिर आप प्रश्न कर सकते हैं कि कुछ लोगों को महान् क्यों कहा जाता है, हमको क्यों नहीं ? उसका सीधा-सा उत्तर यह है कि - महात्मा, विद्वान्, संत जिस कार्य को करते हैं, सामान्य मनुष्य भी वह कार्य कर सकता है, पर वह स्वार्थ या आलस्य के कारण उन नियमों का पालन नहीं करता, जिसको विद्वान्-महात्मा लोग करते हैं। विद्वान्-महात्मा लोगों के प्रत्येक कार्य में उत्तमता होती है। उनके द्वारा किया जाने वाला नैत्यिक-धार्मिक व सामाजिकादि कोई भी

कार्य क्यों न हो, वे अपने प्रत्यके कार्य में स्वार्थ व आलस्य का प्रवेश नहीं होने देते। दूसरी ओर हम हैं, जिन्हें आलस्य व स्वार्थ के कारण नियमों का भङ्ग करने में कोई संकोच नहीं। जब हम नियमों का ठीक प्रकार से पालन नहीं करेंगे तो महान् कैसे बनेंगे ? हम संसार में जन्म लेते हैं, खाते-पीते हैं, भोगों को भोगते हैं और मरकर चले जाते हैं। हमने कभी यह विचार ही नहीं किया कि हम संसार में जन्म लेकर यह कार्य क्यों कर रहे हैं ? अरे, यदि सांसारिक भोगों को भोगना ही हमारे जन्म लेने का उद्देश्य होता, तो फिर मनुष्य-जीवन से पशुओं का ही जीवन अच्छा था। पशु जन्म लेते हैं, भोग भोगते हैं, मरकर चले जाते हैं। न उन्हें किसी विशेष सुविधा की आवश्यकता है और न वे अपने शरीर को प्राप्त करके किसी विशेष दुविधा का अनुभव करते हैं। वे स्वाभाविक ज्ञान के अनुसार जीते हैं। परन्तु मनुष्य स्वाभाविक ज्ञान से पृथक् जब अनेकों प्रकार के कार्य करता है, दूसरों का अनुकरण करता है, उसमें कुछ स्व-विवेक व पुरुषार्थ का सम्मिश्रण कर, उसमें कुछ नयापन देने का कार्य करता है, तो यह बात स्वयं सिद्ध करती है कि मनुष्य जीवन विशेष जीवन है, उसके कार्य व संस्कार, उसका अनुकरण सब अन्य प्राणियों से पृथक् है। सब कुछ पृथक् होने के बाद भी यदि कोई मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत करे, तब यह तो कहा ही जा सकता है कि वह अपनी शक्ति की ठीक प्रकार से सदुपयोग नहीं कर रहा। यदि वह ठीक प्रकार से कार्य करने का संकल्प कर ले और उसके अनुसार आचरण करने लग जाय तो वही कार्य-व्यवहार उसका **सदाचार** कहलायेगा। हम और आप अपने जीवन को देखें और महान् पुरुषों के जीवन को अपने सामने रखें, हमें स्पष्ट समझ आ जायेगा कि महान् पुरुष का प्रत्येक कार्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि के लिए होता है, जबकि हमारे प्रत्येक कार्य अर्थ-काम की सीमा में होते हैं। हम अपनी इच्छाओं पर जीते हैं, उन्हें तृप्त करते हैं और दीप पर पतंगे की भांति मरकर चले जाते हैं। महान् पुरुष पहले धर्म (कर्त्तव्य) को आगे रखते हैं, पश्चात् अर्थ और काम की ओर बढ़ते हैं। उनका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, जबकि हमारा लक्ष्य कुछ नहीं, यदि किसी अंश में स्वीकार भी किया जाये तो मात्र भोगों को भोगना ही हमारा उद्देश्य होगा। परिणाम, हम अपने जीवन में कुछ प्राप्त नहीं कर पाते, जबकि महान् पुरुष अपने कर्त्तव्य द्वारा अपनी आत्मा को भी महान् बनाते हैं और अन्य मनुष्यों को भी महान् बनने की प्रेरणा देते हैं।

यदि आप यहां अपनी अल्पबुद्धि या नासमझी का तर्क देकर यह कहें कि - हम कार्य के परिणाम को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाते, तो आपकी इस समस्या का समाधान करते हुए प्राचीनकाल के विद्वान् मनीषियों ने कहा है - **"महाजनो येन गतः स पन्थाः"** अर्थात् - महान् पुरुष जिस कार्य को करते हैं, वे जिस मार्ग पर चले हैं, आप उनके कार्य को करें और उनका अनुगमन करें। अरे ! घास में रहनेवाला कीड़ा यदि घास जैसे रङ्ग का बन जाता है, कोयले का कार्य करनेवाले मनुष्य पर कोयले के रङ्ग का

प्रभाव पड़ जाता है, तो यह भी सत्य है कि सामान्य मनुष्य यदि महान् पुरुषों के सानिध्य में रहे, तो वह निश्चित ही महान् बन जायेगा। पर विडम्बना यह है कि हम महान् लोगों के पास नहीं बैठते। न महान् पुरुषों के जीवन-चरित्रों को पढ़ने का प्रयास करते। टी.वी, कम्प्यूटर, मोबाइल जैसे यन्त्रों में इतने क़ैद हो जाते हैं कि हम सम्पूर्ण जीवन क़ैदी की भांति व्यतीत करते हैं। कभी वो समय था कि बच्चे दादा-दादी के सानिध्य में बचपन व्यतीत करते थे। रात्रि को सोने से पूर्व दादा-दादी द्वारा सुनाई प्रेरणात्मक कहानियों तथा महापुरुषों की जीवन-कथाओं से अनेकों प्रकार का व्यवहारि-धार्मिक व सामाजिक ज्ञान होता था। माता-पिता द्वारा पोषित संस्कारों से जीवन इतना अधिक नियम-बद्ध हो जाता था कि जब वह बालक बड़ा होकर देश का नागरिक बनता था तो उसके जीवन में सुसंस्कार या नियमबद्धता स्पष्टतः देखी जा सकती थी। इन सब परम्पराओं के टूटने के दुष्परिणाम आज हमारी आंखों के सामने हैं। आज कोई भी समाचार-पत्र ऐसा नहीं है, जिसमें बलात्कार, लूटपाट, चोरी, डकैती की घटनाओं का जिक्र न होता हो। यह नई पीढ़ी में सद् आचरण को जो अभाव देखा जाता है, वह मात्र उनका ही दोष नहीं है, अपितु उनके अभिभावकों का भी दोष है। हमने सुसंस्कार देने का कभी प्रयास नहीं किया। बच्चे किस सोसायटी में बैठ रहे हैं, हमें इस ओर ध्यान देने का समय ही नहीं। फिर कहां से होंगे सदाचारी बच्चे ? कहां बनेंगे देश के श्रेष्ठ नागरिक ? क्या कभी हमने महापुरुषों के आदर्शमय जीवन पर दृष्टि डाली ? यदि हम महान् पुरुषों के जीवन पर दृष्टि डालें और उनकी महानता की पृष्ठभूमि को जानने का प्रयत्न करें तो प्रतीत होगा कि उन्हें बचपन से ही वह वातावरण दिया गया, जिनमें सुसंस्कारों का बीज धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होता गया। कभी आप भगवान् श्रीराम के जीवन को देखें तो आपको ज्ञात होगा कि माता-पिता गुरुजनों द्वारा दिये गये सुसंस्कार उन्हें किस प्रकार से महान् बनाते हैं। भगवान् श्रीराम के जन्म से पूर्व महाराज दशरथ, श्रृङ्गी ऋषि के ब्रह्मत्त्व में यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। जब उनका तथा उनके भाईयों का जन्म होता है, तो कुल पुरोहितों द्वारा उनका विधिवत् नामकरण, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत संस्कार किये जाते हैं। गोस्वामीजी रामचरित मानस में लिखते हैं -

धरे नाम गुर हृदयँ विचारी। बेद तत्व नृप तव सुत चारी॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥
भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥

और जब वे गुरु विश्वामित्र के पास पहुंच गये तब उनकी दिनचर्या का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं -

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥
मुनिवर शयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥

जब श्रीराम-लक्ष्मण सीता-स्वयंवर में मुनि विश्वामित्र के साथ अयोध्या चले गये, तो वहां की दिनचर्या का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं -

करि भोजन मुनिबर बिग्यानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥
बिगत दिवसु गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोऊ भाई॥

इन सब चौपाईयों को पढ़ने के बाद आप यह अवश्य समझ सकते हैं कि भगवान् श्रीराम ने अपने जीवन में कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया जो वेद के प्रतिकूल हो। वे चाहते तो राजपुत्र या राजवैभव का मनमाना प्रयोग कर सकते थे। पर यदि उनके जीवन में किसी भी प्रकार का दोष दिखाई नहीं देता तो उसका कारण है, उनके सुसंस्कार। सुसंस्कार ही सदाचार के परिणाम के रूप में प्रकट होते हैं। कोई भी सन्तान सदाचार का पाठ स्वयं नहीं पढ़ती, अपितु उसको माता-पिता-गुरुजनों द्वारा सदाचार का पाठ सुसंस्कारों द्वारा पढ़ाया जाता है तथा दृढ़ता से उस पर आचरण करवाया जाता है। जब कोई मनुष्य सदाचार का पालन करने का स्वभाव बना लेता है, तो उसी को संसार में महापुरुष की पदवी से अलंकृत किया जाता है। कहा भी है –

जिसने सदाचार के बल पर, गुण-गौरव का दीप जलाया।
ज्योतिष्मान् बना बुझकर भी, इस जगती में अमर कहाया॥

यदि आप चाहते हैं कि हम भी महान् बनें, हमारे बच्चे भी महानता के पथ पर अग्रसरित हों, उनका प्रत्येक कार्य सुकार्य हो, उनके प्रत्येक कार्य पर हम गर्व कर सकें, तो उसका उपाय यही है कि हम महान् पुरुषों के पास बैठें, उनके इतिहास को पढ़ें, उनके आदर्शों का अनुसरण करें। जैसे महान् पुरुष सत्कार्य करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति व्यय कर देते हैं, उसी प्रकार हम भी अपनी शक्ति सत्कार्यों में लगावें। हमारे कार्य व आचरण में स्वार्थ व आलस्य का लवलेश न हो। भगवान् श्रीकृष्ण के उस सन्देश को हम अवश्य स्मरण करें –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता 3/21)

महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही आचरण महान् बनने की इच्छावाले मनुष्य करते हैं। महान् पुरुष उनके लिये प्रमाण हैं; इस भावना से उनके कार्यों का अनुकरण करना ही महान् बनने का सदुपाय है। इसलिये आओ हम संकल्प करें और **"आचारः परमो धर्मः"** के सन्देश को अपने समक्ष रखकर अपने आचार, विचार, व्यवहार व कार्य में सदाचार का सम्मिश्रण करें, तो निश्चित ही हमारे छोटे-छोटे कदम हमें महानता की ओर ले जायेंगे। तभी तो कहा गया है –

सदाचाराद्यशो लोके सदाचारात् सुखं दिवि।
सदाचाराद्भवेन्मोक्षः, सदाचारो हि कामधुक्॥

अर्थात् – सदाचारी मनुष्य को ही संसार में यश की प्राप्ति होती है। सदाचारी मनुष्य ही संसार में समस्त प्रकार के सुखों को प्राप्त करता है। सदाचार से ही मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति करता है और सदाचार ही मनुष्य की समस्त शुभ-कामनाओं को पूर्ण करता है।

इसलिये कहा गया है –

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं लक्ष्मीस्तथैव च।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥

धर्म, सत्य, सच्चरित्र एवं सद्व्यवहार, बल, लक्ष्मी – ये सब (शील) सदाचार पर आधारित हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अतः हम सबको चाहिये कि हम सदाचार को ग्रहण कर, सदैव उन्नतिपथ पर अग्रसरित होने का प्रयत्न करें। ❐

प्रेम-शक्ति की महत्ता

प्रोफेसर श्रीगोपाल
(दिल्ली)

संसार में सबसे बड़ी शक्ति प्रेम की शक्ति है। वह पुरुष जो सर्वदा दूसरों की त्रुटियों की तरफ ध्यान देता रहता है, वह कभी सर्वप्रिय नहीं हो सकता। जो स्त्री चिड़चिड़े स्वभाव की है और सर्वदा अन्यों को घृणा की दृष्टि से देखती है, उसका अपने पति तथा अपने सन्तान पर भी प्रभाव नहीं के बराबर है। एक दुष्ट स्वभाव बालिका न केवल अपने परिवार की शान्ति को भङ्ग करती है प्रत्युत पड़ोसियों के लिये भी वह आपत्ति का रूप बन जाती है। यदि कोई पुरुष है, जिस पर दया की जानी चाहिये, तो वह वही व्यक्ति है जो अपने स्वभाव पर अधिकार जमाने में असमर्थ हो चुका है। वह घर नरकधाम है जहां नवविवाहित लड़की बुरे स्वभाव से आच्छादित है। वह लड़की जिसका स्वभाव शान्त है, जो संयमी है, चाहे वह कुरूप क्यों न हो, पत्नी बनाये जाने के योग्य है, अपेक्षा उस लड़की के जो विदुषी है एवं सुन्दर है, परन्तु स्वभाव में कठोर तथा निर्दयी है। प्रेमयुक्त स्वभाव का अर्थ अनुरूपता है। "समत्वं योग उच्यते" अनुरूपता का ही नाम योग है। जो पुरुष वा स्त्री सब अच्छी वा बुरी अवस्थाओं में एक रस रहते हैं, स्वास्थ्य-दीर्घायु तथा आनन्द उन्हीं के भाग्य में है। प्रत्येक वैद्य इस बात को समझता है कि दुस्स्वभाव होने से आयु अल्प हो जाती है। केवल आयु ही कम नहीं होती, परन्तु दुःस्वभाव के चिह्न हमारी आंखों तथा मुख पर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। सौन्दर्य और माधुर्यता का दुस्स्वभाव के साथ द्वेष है। कई विद्वानों की राय है कि एक बार का क्रोध एक वर्ष की आयु को कम करने में पर्याप्त है। इसलिये समावस्था ही प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिये। **Harmony is health, longevity and happiness.** समावस्था तथा अनुरूपता शारीरिक तथा मानसिक व्यवस्था का नाम है। दुःख है कि वर्त्तमान शिक्षणालयों में इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। जीवन रूपी जल को सोमरस में पतिवर्तित करने का सौभाग्य उन्हीं पुरुषों को प्राप्त हुआ है जो प्रेम की लताओं से अपने घर को सुसज्जित कर रहे हैं। उन उदार हृदयों की उपस्थिति ही पतित मनुष्यों के लिए एक सहारा है। उनका किसी घर में प्रवेश ही अन्धकार को दूर करने में समर्थ है। वे सूर्य रूप हैं, जो प्रेम-समता तथा आनन्द रूपी किरणों के स्वामी हैं। उनकी मुस्कराहट जादू का काम देती है। वे किरणें सारी व्यथा तथा निराशा और अन्धकार को दूर करने वाली है। मनुष्यत्व तथा स्त्रीत्व की प्राप्ति का एकमात्र साधन प्रेम है। दूसरी ओर अन्य प्रकार के लोग हैं, वे विपरीत स्वभाव रखते हैं। उनको देखते ही लोगों को पसीना आने लगता है। वे निष्ठुर तथा ज़िद्दी स्वभाव के होते हैं। उनके प्रति क्रिया का स्वतः आकर्षित होना असम्भव है। वे दूसरों की फबतियां उड़ाते हैं। ताना मारना उसके स्वभाव में प्रविष्ट हो चुका है। निराशा की ध्वनि

उनके हृदय में गूंजती रहती है। सामान्य पुरुष उनसे बातचीत करने में भी संकोच करता है।

प्रेम से प्रेरित हृदय ही उदार हो सकता है। उदारता प्रेम की सहेली है। जो कंजूस है, मक्खीचूस है, वह प्रेम से कोसों दूर है। **'Hoard & lose; Give & increase: this is the universal Low of growth.'** जो जमा करता है, वह खोता है; जो देता है, उसका ऐश्वर्य बढ़ता है। यह सार्वभौमिक नियम है। एक उदारात्मा ने कहा था कि उसका वही ख़जाना जमा है जो उसने दूसरों को दिया है और जो उसने अपने लिए जमा किया है, और केवल स्वार्थ के लिए अपने पेट के पालने के लिए रखा हुआ है, उसका कोई भरोसा नहीं, उसे नष्ट ही समझो। भगवान् श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन ने पूछा कि - ईश्वरभक्त किसे कहते हैं ? भगवान् श्रीकृष्ण जी ने उत्तर दिया - **"सर्व भूतहिते रतः"** जो दूसरों के हित तथा कल्याण में रत रहता है, वही ईश्वरभक्त है। जिसने सब कुछ दूसरों को अर्पण कर रखा है, उसे ही समझो कि वह अपनी पूंजी को बढ़ा रहा है। व्यायाम करते समय शक्ति का क्षय होता है; परन्तु उससे चार गुना शक्ति प्राप्त होती है। जो शक्ति के क्षीण होने के भय से व्यायाम करने से डरता है, उसकी वह शक्ति भी जो उसके पास मौजूद है, ले ली जाती है। हज़रत ईसा ने ठीक ही कहा था - 'मुबारिक हैं वे लोग, जो ग़रीब हैं; क्योंकि ईश्वर का खज़ाना उसके लिए हर समय खुला हुआ है। **"पचन्ति आत्मकारणात्"** वे महानुभाव जो केवल अपना ही पेट पालते हैं और दूसरों के हित के लिए एक कौड़ी भी व्यय करने के लिये तैयार नहीं होते, वे अपने लिये अपने ही हाथों से पाप की कब्र खोद रहे हैं।

'Selfishness is self-destruction' स्वार्थ आत्मघात का वाचक है। वह व्यक्ति जो लेना ही जानता है और देना नहीं जानता, उसकी जवानी रूपी फूल की कली मुर्झाने वाली है। मुर्झाया हुआ फूल छोटा, निकम्मा और फेंकने के योग्य समझा जाता है। वह व्यक्ति निर्जीव है, जो सहानुभूति, प्रेम तथा उदारता से शून्य हो चुका है। उसकी हमदर्दी का स्रोत सूख चुका है, उसके अन्दर उच्च भावनाएं उत्पन्न नहीं हो सकतीं। वह इतना संकुचित और बदबूदार हो चुका है कि कोई पुरुष उसके पास बैठकर बातचीत करना भी गबारा नहीं करता। दूसरे का भला करना, रास्ते में जाते हुए ग़रीब-अपाहिज-लूले-लंगड़े को उत्साहित करना, नौकरों-पाचकों और चपरासियों के साथ सहानुभूति का व्यवहार करना, किसी ग़रीब विधवा या अनाथ के दुःख में शरीक होकर उसके दुःख को कम करना - ये चीजें हैं जो जीवन को उच्च तथा सुन्दर बनाती हैं। इस प्रकार उदारता भी वापसी में चार गुना फल देने वाली होती है। **"सर्वभूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम"** सबके साथ उदारतापूर्वक और हितपूर्वक व्यवहार करना, यही भगवान् का सत्य मत है। देना केवल धन का ही नहीं, प्रत्युत् वाणी द्वारा, मन द्वारा तथा शरीर द्वारा दूसरे के साथ सहानुभूति दिखलाना भी धन देने के तुल्य है। धन देने वाले को ही केवल दानी नहीं कहते, प्रत्युत् वह भी दानी है - जो मधुर शब्द को बोलता हुआ दूसरों की सेवा करता है। वह भी दानी है जो स्वच्छतापूर्वक व्यवहार करता है। **'The more you give, the richer you will grow'** जितना अधिक दोगे, उतने ही अधिक ऐश्वर्यवान् बनोगे। ❐

वैदिक आदर्श गृहस्थ

आचार्य वेदप्रकाश 'श्रोत्रिय'
अलखनन्दा, नई दिल्ली

पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत, विद्या, बल को प्राप्त तथा तुल्य गुण-कर्म-स्वभावों से प्रीतियुक्त होके अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध हुए पश्चात् यथाशक्ति परोपकार करना और नियतकाल में जैसे योगी लोग जिस योग की रीति से उपासना करते हैं, वैसे ईश्वरोपासना करना तथा गृहकृत्य करना, सत्यधर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाना और धर्मानुसार सन्तानों को उत्पन्न करना आदर्श गृहस्थाश्रम कहलाता है।

वैदिक वाङ्मयानुसार गृहस्थ पति-पत्नी एक ऐसी तन्मयता या सम्मिलन हैं, जिसमें दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। यह तन्मयता जितनी सर्वाङ्गीण होगी, उतनी ही गृहस्थाश्रम की आदर्श स्थिति ऊंची होगी। इस स्थिति में किसी तीसरे व्यक्ति के लिए कोई गुंजायश ही नहीं है। पति-पत्नी के इस एकीभाव को कितने ही प्रकार से वैदिक वाङ्मय में संकेतित किया गया है। पति-पत्नी जिस पुरोडाश को यज्ञ में डालते हैं, वह एक कपाल में संस्कृत होता है। यज्ञ की परिभाषाओं में कपाल का बड़ा महत्त्व है। पति-पत्नी के एक कपाल संस्कृत पुरोडाश में एकत्वभाव की चरम व्यञ्जना है। यदि गृहस्थ-जीवन के सब कर्मों को यज्ञ कहा जाये तो गृहस्थ के सब प्रयत्न उसमें पुरोडाश हैं; क्योंकि पति-पत्नी दोनों का उसमें समांश भाग है।

एकत्व के इस निदर्शन में द्यावा-पृथिवी-उत्तरारणि-अधरारणि आदि हैं। यज्ञ में दोनों अरणियों के संयोग से ही यज्ञाग्नि निर्मथित होती है। पति उत्तरारणि है और पत्नी अधरारणि है। **विवाह-यज्ञ में पति के साथ यज्ञ संयोग को प्राप्त होने से स्त्री की पत्नी संज्ञा है।** पति-पत्नी रूप अरणियों के परस्पर निर्मन्थन से सन्तानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है। छान्दोग्योपनिषद् के शब्दों के भावों के अनुसार विधाता की ब्रह्माण्डव्यापी प्रयोगशाला में पुरुष धन विद्युत् और योषा रूप ऋण-विद्युत् के सम्मिलन से जो अग्नि स्फुलिङ्ग प्रदीप्त होता है, वही सन्तान है, जिससे सृष्टियज्ञ विस्तृत होता है। शतपथ में इसी भाव को और भी सुन्दरता से चित्रित किया है -

योषा वै वेदिर्वृषा अग्निः ॥ (शत0 1/2/5/15)

जैसे विधिपूर्वक चयन को प्राप्त हुई वेदि सुसमिद्ध अग्नि से मिलकर फलवती होती है, वैसे ही विवाहयज्ञ द्वारा वृषाशक्ति सम्पन्न पुरुष के साथ तन्मयता को प्राप्त हुई योषित् ही सम्यक् प्रजावती होती है। इसीलिए आरण्यक ग्रन्थों में प्रजनन धर्म लक्षणों में निहित है। अथर्ववेद में गार्हस्थ्य-धर्म का कितना वैज्ञानिक रूप से चित्रण है -

सोमो॑ वधूयु॒र॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा।
सू॒र्या॑ यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ता॑द॑दात् ॥

(अथ0 14/1/9)

इस ब्रह्माण्ड में सोम चन्द्रमा है, जो शुभ गुणयुक्त है। सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त सूर्या है। यह सोम=चन्द्रमा सूर्य की सूर्यारूप वधू की कामना वाला हुआ तथा सूर्या भी सोम की कामना वाली हुई। अर्थात् ये दोनों श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाले एक-दूसरे को चाहने वाले हुए। अभिप्राय यह हुआ कि सोम पति है और इस शुभगुणयुक्त सुकुमार पति के लिए अपने मन से गुणकीर्त्तन करने वाली सुनहरी कान्तियुक्त सूर्या वधू है। सविता=सूर्य जो सूर्या का पिता है, वह इस सूर्या को सोम पुरुष को देता है।

यह सर्वविदित है कि सूर्यकिरण से सोम चन्द्रमा शोभन गुणयुक्त होकर इस जगती-तल पर शान्ति-सुधा सरसाता है। इसी प्रकार सोम=स्नातक पूर्ण ब्रह्मचर्य विद्याबल से युक्त पुरुष किरण की तरह=सूर्या की तरह गुण-कर्म-स्वभाव वाली किसी वधू की कामना वाला हुआ, वधू भी कामनावाली भी हुई। तब सविता=आचार्य तथा पिता परमात्मा मन से गुण-कीर्तन=शंसन करनेवाली वधू को तुल्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले पुरुष के लिए दे देता है। अर्थात् एकात्मता से विवाह कर देता है। जिस प्रकार सूर्य की रात्रि-किरण सोम=चन्द्रमा में समा जाती है, उसी प्रकार पत्नी भी अपने पति में समा जाती है; दोनों एक हो जाते हैं। तभी रात्रि से युक्त चमत्कृत चारु चन्द्र कुमुदजनों के मन कुमुदों को मुद से मुदित बनाता हुआ, इस जगती में शान्ति सुधा सरसाता है। मैं समझता हूं कि बड़े भाग्य से ऐसा जोड़ा मिलता है।

इस प्रकार पत्नी विवाह के द्वारा पति के द्वारा पति से संयुक्त होकर तन्मयता की स्थिति अपने सामने रखती है। इसी सम्पर्क और संस्पर्श में दिव्यसुख का अनुभव करती है। परन्तु शारीरिक संयोग विवाहोदित सम्मिलन का केवल परिमित अंश है। पति-पत्नी प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश के साथ अभिन्न हो जाती है। इसी एकात्मता का नाम **'प्रेम'** है; उसकी जड़ विज्ञानमय कोश तक पहुंच जाती है, तो पत्नी अपने आपको स्पर्श में पति की सत्ता में विलीन करके अपनी पृथक् सत्ता के आभास को खो देती है। यही आनन्द है। प्रेम का वहिया भरपूर हो, तब यदि पत्नी को अपनी पृथक् सत्ता का अनुभव कराने को बाध्य किया जाय तो उसको मर्मस्पर्शी जो दुःख होता है, वह अचिन्त्य, अकथनीय और वर्णनातीत है; क्योंकि इस तन्मयता में पत्नी अपनी पृथक् सम्पत्ति, विचार सबकी तिलाञ्जलि दे देती है।

पत्नी की कान्तिमयता के कमनीय स्वरूप को अरुणिमा, विभावरी, सूनरी सबसे पुरानी तथा सदा युवती उषाकाल में भी पूर्व जागने वाली कहकर वेदमन्त्र ने सबके सौभाग्य की ओर इशारा किया है। देखिए -

इन्द्रा॒णीव॑ सु॒बुधा॒ बुध्य॑माना॒
ज्योति॑रग्रा उ॒षस॒ः प्रति॑ जागरासि ॥

(अथ0 14/2/31)

अर्थात् - **सुबुधा बुध्यमाना** = सुन्दर ज्ञानी उत्तम शिक्षा को प्राप्त, **इन्द्राणीव** = इन्द्र

अर्थात् सूर्य की कान्ति के समान तू **उषसः** = उषाकाल से, **अग्राः** = पहली, **ज्योतिः** = ज्योति के तुल्य, **प्रति जागराणि** = प्रत्यक्ष सब काम में जागती रहे। और भी –

सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥ (अथ0 14/2/32)

अर्थात् – सूर्य की कान्ति समान पति के साथ प्रजा को प्राप्त करनेहारी हो।

इसके अतिरिक्त–

जैसे सूर्य सुन्दर प्रकाशयुक्त प्रभात बेला को प्राप्त होता है, वैसे सुख से घर के मध्य में सन्तानोत्पत्ति की क्रिया को जानने हारे सदा हास्य और आनन्दयुक्त प्रसन्न हुए, उत्तम चाल–चलन से धर्मयुक्त व्यवहार से चलनेहारे उत्तम पुत्रवाले श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त उत्तम जीवन को धारण करते हुए गृहाश्रम के व्यवहारों के पार हो जाओ।

तुम जाया और पति, चकवा और चकवी के समान एक–दूसरे से प्रेमबद्ध रहो इत्यादि वैदिक उपदेश यह सिद्धान्त स्थिर करता है कि प्रेम की यह प्रगाढ़ भावना वा घनिष्ठता यौवनोद्रेक के चपल क्षणों तक ही परिमित न रहकर धर्म के अलङ्घ्य बन्धनों और व्रतों से दृढ़ीभूत होकर आयुपर्यन्त = सौ वर्ष पर्यन्त गृहस्थ सत्र की प्रफुल्ल शान्ति को बढ़ानेवाली हो। यौवन–कुसुम जरा के फल परिपाकों तक पहुंचे बिना बीच में ही न कुम्हलाने पावे, इस बात की चिन्ता में भारत के जरथ मनीषियों ने गृहस्थ नौका को तरुण प्रेम के अतिरिक्त थपेड़ों पर निर्भर छोड़ना उचित नहीं समझा। एक बार का उसका प्रेम कभी मरने के लिए नहीं होता. क्योंकि उसका सूत्रपात करनेवाले विवाहयज्ञ में अग्नि को साक्षी देकर हमने जिस सत्यसंहिता के साथ दाम्पत्य–ग्रन्थि को बांधा था, वह सत्य स्वयं भगवान् के रूप में अजर–अमर है।

कुल मिलाकर साहित्य का सार यदि निकाला जाए, तो जरा से आक्रान्त होने पर भी मनुष्य की आन्तरिक सत्य–संहिता में कोई विकार नहीं आता है तो काल में क्या सामर्थ्य है कि वह प्रेम के दीप को बुझा सके। मृत्यु का पराभव शरीर पर है। **प्रेम तो मन का वस्तु है, इसलिये उसकी विजय–वैजयन्ती अपनी उषःकालीन भासित कान्ति के साथ शाश्वत फहराती है।** इसलिए इस विवाह के सम्बन्ध–विच्छेद भी गुञ्जायश नहीं है। भोग की समिधाओं को संयम के जल से प्रोक्षित करना आवश्यक है।

❐

वर–वधु के स्वभाव की परीक्षा कैसे करें ?

वधु–वर एक दूसरे के गुण–कर्म–स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें – दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्यमधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता, अहङ्कार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह, कपट, द्यूत, चोरी, मद्य–मांसादि दोषों का त्याग, गृह कार्यों में अति चतुरता हो।

(संस्कारविधि)

मेरे बचपन की कुछ स्मृतियां

आचार्य सुधाकर
नारायण विहार, नई दिल्ली

प्रत्येक मनुष्य संसार में आकर माता-पिता-गुरुजनों से जो कुछ सीखता है, उसमें अपनी बुद्धि व विवेक का सामंजस्य करके उसका मनन-चिन्तन करता है। इस मनन-चिन्तन में उसके पूर्वजन्म के संस्कार द्वारा चित्त की वृत्ति और वर्त्तमान जन्म में किये पुरुषार्थ से एकत्रित शास्त्र या अनुभव के ज्ञान का मिश्रण, जब उसकी चिन्तना शक्ति के साथ संयुक्त होकर किसी कार्य का निर्णय करने में समर्थ होती है, तब वह मनुष्य उसी को अपने जीवन का आधार बनाकर, तदनुसार कार्यक्षेत्र में बढ़ने की हिम्मत व प्रयास करता है।

मुझे स्मरण है कि बचपन में श्रद्धेय दादा जी और मेरे पिताजी का सानिध्य मुझे इस प्रकार मिला कि प्रातःकाल जागकर उसके समीप जाना अनिवार्य होता था। उस अनिवार्यता में मात्र विश्राम व प्रेम प्राप्त करने की अनुभूति से अधिक अनिवार्यता यह होती थी कि उस प्रातःकाल की बेला में निद्रा छोड़कर किसी मन्त्र व श्लोक को अवश्य ही दुहराना पड़ता था, जिससे कि वह मन्त्र वा श्लोक पूरी तरह से कण्ठस्थ हो जाये। मैंने अपने दादा जी से और पिताजी से बचपन में अनेकों श्लोक व मन्त्र सीखे। यौवनावस्था में कार्य की व्यस्तता के कारण चाहे अब मैं उन सभी मन्त्रों को ठीक प्रकार से स्मरण न रख पाया हूं, पर उन मन्त्रों के भावों की स्मृतियां एवं उन मन्त्रों के शब्द आज भी मेरे मन व मस्तिष्क को झंकृत करते रहते हैं। मुझे स्मरण है कि मेरे पूज्य दादा जी मुझे दो मन्त्र प्रतिदिन बुलवाया करते थे, जिसमें प्रथम मन्त्र यह है -

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्नि-बोधत। क्षुरस्य धारा निहिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ (कठो0 3/14)

मैं कभी-कभी इस मन्त्र को बोलते-बोलते अपने दादाजी से पूछ बैठता था कि - 'इसका क्या मतलब है ?' तो मेरे दादाजी मुझसे कहा करते थे - 'बेटा ! यह मन्त्र कहता है कि अब सोने का समय नहीं है; उठो, जागो और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के कार्यों में लग जाओ। पर लक्ष्य प्राप्त करने का कार्य आसान नहीं है, इसे ऐसे समझो कि जैसे छुरे की धार पर चलना कठिन होता है, वैसे ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनेकों अच्छे कार्य करने पड़ते हैं।'

जब मैं छोटा था, शायद इस मन्त्र का भाव इतना ही समझ सकता था कि मैंने जागना है और पढ़ने व याद करने का कार्य करना है। पर जैसे-जैसे उम्र के पडावों पर आगे बढ़ते हुए मैं यौवनावस्था तक पहुंचा हूं, तब मुझे यह अनुभव होता है कि यह मन्त्र नींद से जागने के लिए नहीं,

अपितु मानव जीवन के लक्ष्य के प्रति सजग होने लिए ही सन्देश देता है। मैं आज अनुभव करता हूं कि जब हमें अपने जीवन यापन के लिए इतना अधिक पुरुषार्थ करना पड़ता है, तो जो महापुरुष अध्यात्ममार्ग का अनुगमन करते हैं, वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में कितना पुरुषार्थ करते होंगे? यह सोचकर मन सिहर उठता है। उस समय मुझे गीता का वह श्लोक का स्मरण आता है – **"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी"** जब सारा संसार सो रहा होता है, उस काल में अध्यात्म-संयमी लोग अपने जीवन के सत्कार्य में कार्यशील हो जाते हैं। उनका यह रास्ता बड़ा कठिन है। इस रास्ते पर विरले ही लोग जा सकते हैं। यह कार्य ठीक ऐसे समझिये कि जैसे –

एक स्थान पर एक मन्दिर था। उसके दो रास्ते थे। एक रास्ता सड़क मार्ग से था, जो 50 किलोमीटर लम्बा था, और दूसरा रास्ता पहाड़ी से होकर निकलता था, तो सिर्फ आधे किलोमीटर की दूरी पर था। अधिकांश लोग सड़कमार्ग द्वारा ही उस मन्दिर तक जाते थे। आजकल की तरह उस समय आने-जाने के साधन भी नहीं थे। मन्दिर जाना है तो कई दिन जाने-आने में ही व्यतीत हो जाते थे। शरीर की थकान अलग, अपने निजी कार्य से दूर रहकर काफी समय बिताना यह अलग, और भूखे- प्यासे मन्दिर तक जाना आना – ये सब कार्य बड़े कठिन थे। पर अधिकांश लोग इसी रास्ते को चुनने की कल्पना करते थे। पर कुछ लोग ऐसे भी थे कि जो सड़कमार्ग से न जाकर पहाड़ी वाले मार्ग से मन्दिर जाते थे। क्योंकि समय की बचत और मन्दिर में दर्शन का शीघ्र लाभ और भूख-प्यास की कोई चिन्ता नहीं। पर पहाड़ी पर चढ़ना इतना आसान भी नहीं था। यदि पांव फिसल जाये तो फिर मौत के आलिंगन करने की संभावना हर क्षण बनी रहती थी। फिर भी कुछ लोग ऐसे थे जो पहाड़ी के रास्ते से मन्दिर जाते और दर्शन करके शीघ्र वापस आ जाते।

जैसे उस मन्दिर पर जाने के दो रास्ते हैं, ठीक वैसे ही संसार में लक्ष्य प्राप्त करने के भी दो रास्ते हैं। एक वह हैं जिसकी सामान्य लोग कल्पना करते हैं। उनके मन में मन्दिर जाने की तीव्र लालसा नहीं है। वे अपना अधिकांश समय घर के कार्यों में ही व्यतीत करते हैं। यदि कभी उनके मन में मन्दिर जाने का विचार आ भी जाये तो वह सरल मार्ग की ही कल्पना करते हैं। पर जिनकी तीव्र श्रद्धा शीघ्र लक्ष्य को प्राप्त करने की है, वे पहाड़ी पर चढ़ने के समान **संयम-ध्यान-निष्ठा** और **एकाग्रता** द्वारा लक्ष्य का विशेष ध्यान रखते हैं। तभी वे शीघ्र ही सफलता के लक्ष्य को चूमकर, हर्षानन्द को प्राप्त करते हैं।

अब इस मार्ग में से कौन-से मार्ग पर हमें चलना है, यह हमारे पुरुषार्थ, श्रद्धा और बुद्धि पर अवलम्बित है। हमें अधिक समय खोकर लक्ष्य प्राप्त करना है या कम समय में; यह हमें अपने आप ही सोचना है। यदि हम उचित निर्णय ले सके तो ठीक, अन्यथा हम यह कहते-कहते इस संसार से चले जायेंगे – **"बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा"** पर जब हम संसार से जायेंगे तब हमें पता चलेगा कि हमने इस जीवन में समय का कितना उपयोग किया है? यह उस दिन ज्ञात होगा जिस दिन हमारे संसार से

विदा होने का वक़्त होगा। तब हम स्वयं ही जान जायेंगे कि हमने क्या खोया और क्या पाया ?

मुझे दादाजी दूसरा जो मन्त्र याद कराते थे, वह था यजुर्वेद का, जो मुझको आज भी प्रिय लगता है। मन्त्र इस प्रकार है –

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥

(यजु0 35/4)

वेद कहता है कि – इस संसार में हमारा वास पीपल के पत्ते की तरह है। जैसे पीपल का पत्ता हवा के थोड़े झोंके से नाचने लगता है, मस्त हो जाता है, उसी प्रकार संसार में आकर मनुष्य वैभव को पाकर मस्त होकर नाचने लगता है, ऐंठने लगता है, प्रभुत्त्व दिखाने लगता है। जबकि उसे ये पता नहीं कि तू पीपल के पत्ते की तरह पेड़ पर कितनी देर तक रह पायेगा ? उस प्रभुत्त्व के चक्कर में वह अपने कर्त्तव्य को भूलकर अधर्म मार्ग पर चलने लगता है और अपने विधाता को ही भूल जाता है। यही भूल है जो उसके पतन का कारण बनती है।

हम जानते हैं कि हम सदा नहीं रहेंगे, फिर भी हम सदा रहने के लिए प्रयत्न करते हैं। जिसके साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है, उसके साथ अनित्य का व्यवहार और जिसके साथ अनित्य का सम्बन्ध है, उसके साथ नित्य जैसा व्यवहार हम करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हम कहीं न कहीं भूल में हैं। पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, धन के मद में अपने वास्तविक कार्यों को छोड़ बैठते हैं। जिस संसार में कुछ समय तक वास करना है, उसमें सदा-सदा वास करने का प्रयत्न कर रहे हैं और जिसके साथ सदा-सदा रहना है, उसे हम बिल्कुल भूल बैठे हैं।

मुझे ध्यान है कि मेरे पिताश्री की चौकी पर एक काग़ज लिखा रखा था, जिसमें वास, आवास, निवास, प्रवास, उपवास, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति, उनके अनेक अर्थ लिखे हुए थे। मैंने पिता से पूछा – 'आजकल आप क्या लिख रहे हैं ?' उन्होंने मुझे सन्तुष्टिजनक कोई उत्तर नहीं दिया, बस इतना कह दिया कि – 'जब मैं लिख लूंगा, तब मैं आपको दिखा दूंगा कि मैंने क्या लिखा है और क्यों लिखा है।' पर उस काग़ज के शब्दों को पढ़कर मेरे मन में एक बिजली-सी कौंध गई। क्योंकि इतना संस्कृत भाषा का परिज्ञान तो मुझे मेरे पिता ने बचपन में ही करा दिया था। जब मेरे विद्यालय में संस्कृत नहीं थी, तो मेरे पिता ने मुझे अलग से संस्कृत विषय दिलवाया। जिस दिन मेरी संस्कृत परीक्षा का दिन था, तो उस दिन पूरे विद्यालय में मैं अकेला ही छात्र था, जो संस्कृत का पेपर दे रहा था। वहां के प्रिंसिपल ने मुझसे पूछ लिया कि – 'क्या तुम किसी शास्त्री जी के बेटे हो ?' तो मैंने हां में उत्तर दिया। तब उन्होंने अपने कमरे में ही मुझे प्रश्नपत्र हल करने के लिए बैठा दिया और कहा कि – 'तुम यही बैठकर पेपर कर लो, अलग से कमरे में क्यों मैं किसी अध्यापक की ड्यूटी लगाकर उसको परेशान करूं।' इस प्रकार मेरे पिता ने मुझे थोड़ा-सा संस्कृत का ज्ञान बचपन में करा दिया। पर उनका प्रयास यहां तक रहा कि आर्यजगत् के उच्च कोटि के विद्वान् श्री दिवस्पुत्र भारथी जिनका पूर्वनाम अभिविनय

भारथी था, जो वेस्ट पटेल नगर में रहते थे, मैं उनके पास अपनी बहिन तथा आर्यसमाज नारायण विहार के माननीय वरिष्ठ सदस्य स्व0 महेशचन्द्र पुरी जी के साथ संस्कृत सीखने जाता था। उसका लाभ यह हुआ कि पिता के द्वारा लिखे शब्द मैंने पढ़ लिये और जब मैं उन पर विचार करने लगा तो मुझे बचपन का याद किया मन्त्र तुरन्त ही स्मरण हो आया और मैं सोचने लगा कि जब हमारा जीवन ही पीपल के पत्ते की तरह है तो क्यों मनुष्य इतने बड़े पचड़े में पड़ा रहता है कि अभिमान में आकर न जाने कैसे-कैसे शब्दों का चयन करता है, कैसे-कैसे कार्य करता है; जबकि उसकी अन्तरात्मा उसके किये कार्यों पर किंचित् भी सहमत नहीं होती ? पर मैं पिता के द्वारा लिखे गये शब्दों पर बार-बार सङ्गति लगाने का प्रयास करता रहा। जो मैंने शब्दों की सङ्गति लगाई, मुझे पता नहीं कि आप उसे कितना उचित मानें या अनुचित, पर मैं अपने मन की बात लिख ही रहा हूं तो मैं उन शब्दों के भावों को आज आपके समक्ष रखना अपना कर्त्तव्य मानता हूं। यहां आप इतना अवश्य समझ लें कि संस्कृत भाषा में प्रत्येक शब्द धातु, प्रत्यय या उपसर्ग लगाकर बनाये जाते हैं। धातु के साथ प्रत्यय बाद में लगते हैं और उपसर्ग पहले। किसी धातु के साथ जब उपसर्ग लग जाते हैं तो उस शब्द के अर्थ में या तो विशेषता आ जाती है या उस शब्द का अर्थ बिल्कुल नया बन जाता है। मन्त्र में जिस **वसति** शब्द का प्रयोग हुआ है, वह शब्द **वस्** धातु से बना है। उसी शब्द से वास बनता है और उसी वास में जब पृथक्-पृथक् उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है तो नए-नए शब्द और अर्थ हमें दिखाई देने लगते हैं। जैसे -

आ+वास=**आवास**। अर्थात् जहां पर अच्छी प्रकार से सुख-सुविधापूर्वक रहा जाय, वह आवास है।

नि+वास=**निवास**। अर्थात् निश्चित रूप से आप स्वयं या अपने परिवार सहित वास करें, उसका नाम निवास है।

परि+वास=**परिवास**। अर्थात् जिस घर में सब ओर से सम्पूर्णता की अनुभूति हो, उसका नाम परिवास है।

अधि+वास=**अधिवास**। अर्थात् जिसमें सब ओर से निश्चिन्ततापूर्वक निवास किया जाय, वह अधिवास कहलाता है।

अभि+वास=**अभिवास**। अर्थात् सब प्रकार से सुखपूर्वक रहने का नाम अधिवास है।

अनु+वास=**अनुवास**। जिस घर में परम्परागत रूप से निवास किया जाये, उसका नाम अनुवास है।

सम्+वास=**समवास**। अर्थात् जहां पर सबका साहचर्य प्राप्त किया जाय, वह समवास कहलाता है।

प्र+वास=**प्रवास**। जब अपने घर से दूर किसी विदेश में कोई व्यक्ति रहने लगे, तब वह प्रवास कहलाता है।

वि+वास=**विवास**। जब किसी को अपने से कोई पृथक् कर देता है, तो वह विवास कहलाता है।

ऐसे एक नहीं, अनेकों शब्द **वस्** धातु से बन सकते हैं। पर इन सब स्थिति में जो वस् धातु

है और जिसकी उपमा वेद में पीपल के पत्ते से दी गई है, उसके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आप संसार में आकर आवास-निवास कुछ भी बनायें, पर इस संसार में आपका प्रवास ही है क्योंकि हमें इस आवास-निवास को छोड़ना ही है, तो फिर घमण्ड किस बात का ? क्या हम भूल नहीं जाते कि संसार में हमने सदा-सदा नहीं रहना। हमारे जो सत्कार्य संसार के लोगों को प्रेरणा देते हैं, वे ही कार्य हमारे संस्कार बनते हैं। इसलिए हमें वेद के मन्त्र पर प्रतिदिन विचारकर यह सोचना चाहिये कि हम संसार को तोड़ने आये हैं या जोड़ने के लिए। शास्त्र कहते हैं - अपने को जोड़ो प्रकृति से, विकृति से नहीं। जोड़ना है अपने को आत्मा से जोड़ो, अनात्मा से नहीं। जोड़ना है तो आत्मा को परमात्मा से जोड़ो, किसी अन्य से नहीं। यदि हम जोड़ना सीख जायें, तो संसार के अनेकों कष्ट क्लेश स्वयमेव विदा हो जायें। हमें चाहिए कि हमें अपनी शक्ति, नकारात्मक कार्यों में व्यय न करके, सकारात्मक कार्यों में व्यय करें। नकारात्मक भाव परिवार, समाज, राष्ट्र को विखण्डित करता है, जबकि सकारात्मकता हमें सिखाती है -

अयं निज परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह मेरा है, यह तेरा है, ऐसी गणना छोटे हृदय वाले करते हैं, पर उदार हृदयवालों के लिए तो सारा का सारा संसार की अपना परिवार है।

जब ऐसा भाव प्रत्येक मनुष्य के मन में उत्पन्न होगा, तब सर्वत्र शान्ति की शान्ति होगी और सर्वत्र अपनापन ही दिखाई देगा। ❐

* आत्मा कैसे पवित्र हो ? *

आचार्य श्याम

जेठ का महीना था, गर्मी अपने यौवन पर थी। एक महात्मा जी भ्रमण करते-करते दो-चार दिन विश्राम की इच्छा से किसी अपने भक्त के घर पहुंच गए। भक्त का परिवार गङ्गादशहरा-स्नान के लिए राजघाट जाने की योजना बना चुका था। जब उन्होंने महात्मा जी को देखा तो वे बोले - 'महाराज ! हम गङ्गास्नान के लिए राजघाट जा रहे हैं, आपकी इच्छा हो तो आप भी हमारे साथ चलें, अन्यथा आप हमारे घर पिताजी के साथ विश्राम करें; हम एक-दो दिन में वापस आ जायेंगे। अच्छा होता कि आप भी हमारे साथ गङ्गास्नान के लिए चलते।' महात्मा जी बोले - 'बेटा ! इच्छा तो मेरी भी थी, पर मैं भ्रमण से इतना अधिक थक गया हूं कि अब मैं दो-चार दिन आपके यहां विश्राम करना चाहता हूं। इसलिये मैं तो यहीं रहूंगा, यदि तुम चाहो तो अपने साथ मेरे कमण्डल को गङ्गास्नान अवश्य करा देना।' भक्त ने महात्मा की बात स्वीकार कर ली और वह उनका कमण्डल लेकर अपने बच्चों के साथ गङ्गास्नान को निकल गया। उसने जब वहां जाकर गङ्गाजी में स्नान किया तो महात्मा जी के कमण्डल को भी इसने खूब स्नान कराया। जब ये परिवार गङ्गास्नान के बाद लौटकर घर आया तो इस भक्त ने महात्मा जी का कमण्डल वापस देते हुए कहा - 'महाराज ! मैंने जितने गोते गङ्गा में लगाये, उससे कहीं अधिक गोते आपके कमण्डल को लगवाये हैं।' महात्मा ने 'बहुत अच्छा' कहकर उस कमण्डल को स्वीकार कर लिया; पर दूसरे ही क्षण ज़मीन में मारकर उस कमण्डल को तोड़ दिया और उसके टुकड़ों को मुंह से चाखते हुए बोले - 'अरे ! ये तो अभी कड़वा ही है; मैं तो समझ रहा था कि यह जिस कड़वी लौकी से बना है, गङ्गास्नान के बाद इसका कड़वापन समाप्त हो जायेगा, पर ये तो वैसा का वैसा ही रहा।' तब भक्त बोला - 'महाराज ! गङ्गास्नान करने से इसकी कड़वाहट थोड़े ही समाप्त हो जाती ? यह तो जिस कड़वी लौकी से बना है, तो वैसा का वैसा ही रहेगा।' यह बात सुनकर महात्मा जी बोले - 'बेटा ! बात तुम ठीक कह रहे हो। मैं भी यही मानता हूं कि जो लोग गङ्गास्नान से अपने पापों को धोना चाहते हैं, पाप उनके समाप्त नहीं होंगे। क्योंकि पाप अन्तरात्मा की मैल के कारण होते हैं। इसलिए जो लोग पापों को समाप्त करने के उद्देश्य से गङ्गास्नान करने जाते हैं, यह उनका भ्रम है। पाप गङ्गास्नान से नहीं, न करने के संकल्प और सत्सङ्ग से मिटते हैं। इसलिए यदि तुम अपनी आत्मा को धोना चाहते हो, तो सत्पुरुषों का सङ्ग करो, अवश्य ही कल्याण होगा।' ❐

परिस्थिति समझें, तदनुकूल कार्य करें

शकुन्तला आर्या
संरक्षक - धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली

कहते हैं कि एक बार एक जुलाहा अपने राज्य के राजद्वार पर जाकर दरबान को कहने लगा कि - 'मैं राजा के लिए अपने हाथों से एक चादर बनाकर लाया हूं; कृपया आप मेरे प्रवेश की राजा से अनुमति लें, जिससे मैं इस चादर को उपहार स्वरूप अपने राजा को भेंट कर सकूं।'

दरबान ने उस व्यक्ति का सन्देश राजा तक पहुंचा दिया। राजा की अनुमति पाकर जब यह जुलाहा राजा के सभागृह में पहुंचा तो इसने बड़ी विनम्रता से अभिवादन कर राजा को कहा- 'महाराज ! मैं आपके ही राज्य में रहकर जुलाहे का कार्य करने अपना जीवन-यापन करता हूं। मेरी इच्छा थी कि मैं कोई अच्छी चादर बनाकर अपने राजा को भेंट करूं; बस, इसी अभिलाषा से मैंने यह चादर आपके लिये बनाई है और मैं इसे आपको भेंट करना चाहता हूं। कृपया मुझ ग़रीब का यह उपहार आप स्वीकार करें।'

राजा की स्वीकृति पाकर इस जुलाहे ने राजा को अपना बनाई हुई चादर भेंट कर दी। पर सभागृह से जाते-जाते इसने राजा से अनुरोध किया - 'महाराज ! आप इस चादर का प्रयोग अवश्य करें। इससे मुझे प्रसन्नता मिलेगी।' राजा ने सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति दी और ये जुलाहा बड़ी प्रसन्नता के साथ राजदरबार से बाहर चला गया।

जब राजा रात्रि को सोने के निमित्त अपने शयनकक्ष में पहुंचा तो राजा ने अपने सेवक को आज्ञा दी कि - 'आज जो व्यक्ति हमें चादर, उपहार स्वरूप देकर गया है, तुम उसे मुझे उढ़ा दो।' इतना कहकर राजा अपने बिस्तर पर लेट गया। सेवक ने चादर लाकर जब राजा के ऊपर डाली, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि चादर की लम्बाई छोटी है। फिर भी सेवक ने प्रयास किया कि वह राजा को चादर से सब ओर से ढ़क दे; पर चादर छोटी होने के कारण जब वह राजा के पैरों तक चादर डालने की कोशिश करता तो राजा का सिर खुला रह जाता और जब सिर को ढ़कने का प्रयास करता तो राजा के पैर बिना ढ़के रह जाते। अन्ततोगत्वा सेवक ने राजा से कहा - 'महाराज ! यह चादर बहुत छोटी है। आपका शरीर इससे नहीं ढ़क सकता, इसलिये आप इसका कहीं अन्यत्र प्रयोग कर लें।'

अभी सेवक का इतना कहना ही था कि अचानक शयनकक्ष में रानी का प्रवेश हो गया और उन्होंने सेवक के हाथ में नई चादर देखकर पूछ लिया कि - 'ये चादर कहां से आई है?' सेवक ने सारा घटनाक्रम बताते हुए कहा - 'रानी जी ! जो जुलाहा इस चादर को हमारे महाराज को भेंट करके गया था, उसकी भेंट में श्रद्धा बहुत थी, और उसका अनुरोध भी था कि मेरी बनाई

हुई चादर का प्रयोग महाराज अवश्य करें। पर यह चादर इतनी अधिक छोटी है कि जब भी मैं अपने महाराज को इस चादर से ढ़कने का प्रयास करता हूं तो कभी यह चादर पैर से हट जाती है तो कभी सिर से। इसलिये मेरा सुझाव है कि यह चादर हमारे महाराज के लिए किसी प्रकार से उपयुक्त नहीं है।'

सेवक की बात सुनकर रानी ने अपने हाथों में सेवक से चादर लेते हुए कहा - 'महाराज! चादर यदि थोड़ी छोटी-भी है तो भी उसका उपयोग किया जा सकता है।' राजा ने कहा - 'देवी ! हमारे सेवक ने अनेकों बार प्रयास कर लिया; कभी चादर हमारे पैरों पर नहीं होती और कभी हमारे सिर पर नहीं। क्योंकि चादर की लम्बाई छोटी है।' इस पर रानी ने कहा- 'महाराज! आप राजा की तरह क्यों सोते हैं ? आप बच्चों की तरह सोईये। जैसे आप अपने बचपन में घुटने पेट से लगाकर सोते थे, आप उसी तरह सो जाईये।' रानी की बात मानकर राजा ने अपने घुटने पेट से सटा लिये और लेट गये। रानी ने उपयुक्त समय जान कर वह चादर राजा के ऊपर डाल दी। अब राजा का शरीर उस चादर से पूरी तरह से ढ़क गया। तब रानी ने महाराज से कहा - 'महाराज ! क्या आपने यह कहावत नहीं सुनी **"तेते पांव पसारिये, जेती लम्बी सौर'**। मनुष्य को उतने ही पैर फैलाने चाहिये, जितनी लम्बी उसकी चादर हो। अन्यथा आप चादर का ठीक प्रयोग नहीं कर सकते। ये कहावत महाराज इस चादर के साथ ही उपयुक्त नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भी उपयुक्त है। आपकी जितनी शक्ति-सामर्थ्य है, आपकी जिस प्रकार की परिस्थिति है, उसी के अनुकूल कार्य करने का प्रयत्न करना चाहिये। जो मनुष्य अहङ्कारवश परिस्थितियों के अनुसार अपने को मोड़ता नहीं जानता, वह मनुष्य उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि आंधी आने पर जो वृक्ष झुक जाते हैं, वे आंधी के चले जाने के बाद भी वहीं के वहीं खड़े दिखाई देते हैं; पर जो उस आंधी का अहङ्कारवश मुकाबला कर, झुकने का किञ्चित् प्रयास नहीं करते, वे आंधी के झोंके में उखड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

राजा ने रानी के मुख से जीवनोपयोगी बातें सुनकर रानी को हृदय से लगाते हुए कहा - 'देवी ! तुम ठीक ही कहती हो। तुमने अपने कथन से मात्र मुझे ही सन्देश नहीं दिया, अपितु संसार के समस्त मानवों को यह सन्देश दिया है कि जिस मनुष्य की जैसी परिस्थिति हों, उसको उसी प्रकार की स्थिति में श्रेष्ठकार्य करते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी वह लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो पायेगा। इसके विपरीत जो मनुष्य अहङ्कारवश विपद्ग्रस्त परिस्थियों में ऐसा प्रयत्न नहीं करता, वह सूखे वृक्ष की भांति परिस्थितियों से टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह परिस्थितियों को दोष न देकर अपने दृष्टिकोण को बदले, और उन परिस्थियों के बीच से आगे बढ़ने के लिए नया रास्ता खोजने का प्रयत्न करे। यही जीवन में लक्ष्य पाने का श्रेष्ठ उपाय है। ❑

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली के तत्त्वावधान में दिनाङ्क १४ अप्रैल से ७ मई २०२०, बुद्ध-पूर्णिमा तक कोराना-महामारी की शान्ति हेतु ५१००० मन्त्र जाप एवं ११००० महामृत्युञ्जय मंत्र द्वारा यज्ञ के चित्र

यज्ञ एवं जाप में मानसरूप से सम्मिलित महानुभावों के नाम –

रवीन्द्रमोहन एवं किरन सेठ, राजन एवं सीमा थापर, स्वराज थापर, आशा मुतरेजा, सन्तोष वधवा, राधेश्याम शर्मा, रुद्रेश एवं राजेश, दीपक, राखी एवं वीरेन्द्र, हर्ष, श्वेता एवं सुधाकर, निष्ठा, नीलम सूद, अमित, शिव, अनन्या, अनुज एवं नूर, अनाइज़ा, वेलु स्याल, ज्योति एवं अशोक चड्ढा, मोनिका एवं वैभव, रेयांस, देवांस, वेदान्त, रेखा, माता शकुन्तला, कालीचरण एवं राजेश्वरी, नीति एवं संयम, दीपक एवं सुप्रिया, सुदक्षा, मान्य, इन्दु मेहता, सीमा चावला, सुखवीर सिंह, मुनि ज्ञानचंद एवं कैलाश कुमारी, अनीता एवं रंजीव, हिमाली एवं हरप्रीत सोढी, लक्षित, सुनन्दा एवं संजीव, रोहन, चेरी, सुनीता बुग्गा, सुदर्शना कोहली, रवि कोहली, अचला मदान, निर्मलकान्ता अधलखा, गायत्री, पुष्पा, सतीश एवं माला, कुलदीप, रश्मि मलहोत्रा, सुषमा एवं सपन कपूर, सानिया, श्रेय, आशा, परमजीत कौर, आदर्श सहगल, हरीशंकर एवं किरन, सीमा चावला, सुनील एवं पूनम कोहली, आकर्षिता, डा0 जे. एस.बालियान एवं सुशील वालियान , जितेन्द्र एवं अनीता आर्य, श्रुति एवं निहार, पुनीत, रमेश कान्ता, श्रुति, वैभव, सोनिया, केतन, मुकेश चुघ, अश्विनी गख्खड़, रामकृष्ण जुनेजा, मोनिका, अनीता, माया तंवर, लाजवंती गर्ग, रवीन्द्र एवं मंजू गर्ग, आदित्य एवं रोहन गर्ग, अर्चना एवं अनिल मुतरेजा, आंचल, लक्ष्य, एकलव्य।



श्रीमती तारा शर्मा महामृत्युंजय का जप एवं यज्ञ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा एवं मुनि ज्ञानचन्द भूटानी जी शान्ति-यज्ञ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा कोरोना शान्ति के लिए महामृत्युंजय का जप करते हुए



कोरोना की शान्ति के निमित्त महामृत्युंजय जप एवं यज्ञ का चित्र



श्री मुनि ज्ञानचन्द भूटानी जी कोरोना शान्ति के लिए जप एवं यज्ञ करते हुए



श्रीमती सुनन्दा भूटानी एवं श्रीमती तारा शर्मा महामृत्युंजय का जप करते हुए



श्रीमती सुनन्दा भूटानी, श्रीमती तारा शर्मा एवं मुनि ज्ञानचन्द यज्ञ करते हुए



श्रीमती अनीता भूटानी एवं श्री रंजीव भूटानी शान्ति-यज्ञ करते हुए



श्रीमती सुनन्दा भूटानी, श्रीमती तारा शर्मा एवं मुनि ज्ञानचन्द यज्ञ करते हुए



आचार्य श्याम महामृत्युंजय मन्त्र का यज्ञ में पाठ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा कोरोना शान्ति के लिए महामृत्युंजय जप एवं यज्ञ करते हुए



श्री रंजीव भूटानी एवं श्रीमती सुनन्दा भूटानी शान्ति-यज्ञ करते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली के तत्त्वावधान में दिनाङ्क १४ अप्रैल से ७ मई २०२०, बुद्ध-पूर्णिमा तक कोराना-महामारी की शान्ति हेतु ५१००० मन्त्र जाप एवं ११००० महामृत्युञ्जय मंत्र द्वारा यज्ञ के चित्र



श्रीमती अनीता भूटानी, लक्ष्य भूटानी एवं श्री रंजीव भूटानी यज्ञ करते हुए



श्री मुनि ज्ञानचन्द अपनी सहधर्मिणी के साथ यज्ञ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा एवं श्रीमती कैलाश भूटानी यज्ञ करते हुए



श्री मुनि ज्ञानचन्द भूटानी अपनी सहधर्मिणी के साथ यज्ञ करते हुए



श्रीमती मनोहर लाल गुलाटी एवं श्रीमती तारा शर्मा यज्ञ करते हुए



श्रीमती रंजीव भूटानी अपनी सहधर्मिणी श्रीमती अनीता भूटानी के साथ यज्ञ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा कोरोना शान्ति के निमित्त यज्ञ करते हुए



श्रीमती सुनन्दा भूटानी एवं श्रीमती तारा शर्मा यज्ञ करते हुए



श्री मुनि ज्ञानचन्द भूटानी महामृत्युंजय यज्ञ एवं जप करते हुए



यज्ञ में सम्मिल होते हुए सुधाकर शर्मा श्रीमती श्वेता शर्मा एवं निष्ठा के साथ



श्रीमती तारा शर्मा अपने परिवार के साथ शान्ति-यज्ञ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा अपने परिवार के साथ शान्ति-यज्ञ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा एवं आचार्य श्यामजी शान्ति-यज्ञ करते हुए



श्री ज्ञानचन्द भूटानी एवं आचार्य श्याम जप एवं यज्ञ करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा कोरोना की शान्ति के निमित्त यज्ञ करते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा के तत्त्वावधान में दिनाङ्क 3 जनवरी 2021 को ग़रीब अभिभावकों के निमित्त सनातन धर्म मन्दिर नारायण विहार में कम्बल वितरण कार्यक्रम



श्री चन्द्रभान, आचार्य श्याम, रवि कोहली श्रीमती सुनीता गुलाटी एवं श्री करणसिंह तंवर


श्रीमती परमजीत कौर (सभा मन्त्रिणी), तारा शर्मा, श्री करणसिंह तंवर एवं श्री अशोक वत्रा



कम्बल वितरण कार्यक्रम में आमन्त्रित अतिथिगण महानुभावों का सामूहिक चित्र


श्री अशोक वत्रा (प्रधान-सनातन धर्म मन्दिर) एवं श्री छैलबिहारी गोस्वामी (निगम पार्षद)


श्री रणवीर सिंह (प्रधान - आर्यसमाज नारायणा) आगन्तुक लोगों को सम्बोधित करते हुए


श्री छैलबिहारी गोस्वामी आगन्तुक लोगों को सम्बोधित करते हुए


चित्र में श्री आर.पी.सिंह, श्रीमती सुनीता गुलाटी, श्रीमती ममता सिंह एवं श्री रणवीर सिंह


कम्बल वितरण कार्यक्रम में श्री आर.पी.सिंह आगन्तुक लोगों को सम्बोधित करते हुए


कम्बल वितरण कार्यक्रम में श्री करणसिंह तंवर आगन्तुक लोगों को सम्बोधित करते हुए


श्रीकरणसिंह तंवर आगन्तुक महानुभावों को सम्बोधित करते हुए


कम्बल वितरण कार्यक्रम में आगन्तुकगणों का श्री रवि कोहली जी निरीक्षण करते हुए


कम्बल वितरण कार्यक्रम में उपस्थित अभिभावक-गण


कम्बल-वितरण कार्यक्रम में महिलाओं का उपस्थित समूह


कम्बल-वितरण कार्यक्रम में अभिभावकों का उपस्थित समूह


श्री रणवीर सिंह, श्री विजय घई एवं श्री करणसिंह तंवर सभागार में

धर्म संवर्द्धिनी सभा के तत्त्वावधान में दिनाङ्क 3 जनवरी 2021 को ग़रीब अभिभावकों के निमित्त सनातन धर्म मन्दिर नारायण विहार में कम्बल वितरण कार्यक्रम



श्री रणवीर सिंह एवं श्रीमती सुनीता गुलाटी कम्बल वितरण करते हुए



श्रीमती ममता सिंह एवं श्रीमती गुलाटी कम्बल वितरण करते हुए



श्री आर.पी.सिंह एवं श्री छैलबिहारी गोस्वामी जी कम्बल वितरण करते हुए



श्री करणसिंह तंवर, श्री विजय घई जी कम्बल-वितरण करते हुए



श्रीमती सन्तोष वधवा महिलाओं को कम्बल-वितरण करते हुए



श्रीमती तारा शर्मा एवं श्री रणवीर सिंह जी कम्बल वितरण करते हुए



श्रीमती सन्तोष वधवा एवं श्रीमती सुनीता गुलाटी एवं कु0 निष्ठा कम्बल वितरण करते हुए



श्री प्रवीण ओवराय जी आगन्तुकों को कम्बल-वितरण करते हुए



श्री विजय घई एवं श्री करणसिंह तंवर जी कम्बल-वितरण करते हुए



श्री रणवीर सिंह एवं श्री करणसिंह तंवर कम्बल-वितरण करते हुए



श्रीमती परमजीत कौर महिलाओं को कम्बल-वितरण करते हुए



श्री अशोक वत्रा एवं श्री रणवीर सिंह जी कम्बल-वितरण करते हुए



श्री अशोक वत्रा, रणवीर सिंह, एवं चन्द्रभान जी कम्बल-वितरण करते हुए



श्री करणसिंह तंवर एवं श्री छैलबिहारी जी महिलाओं को कम्बल वितरण करते हुए



श्री रणवीर सिंह एवं श्री विजय घई कम्बल-वितरण करते हुए

* शिक्षादान ही महादान *

यदि आप चाहते हैं कि हमारे देश का प्रत्येक बालक साक्षर बने, तो हमारे द्वारा चलाने वाले 'साक्षारता-अभियान' में आप हमारा सहयोग अवश्य करें। आज शिक्षा का औद्योगीकरण हो गया है। जो व्यक्ति समर्थ हैं, वे अपने बच्चों को उच्च से उच्च शिक्षा दिलवाने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखते। पर हमारे देश में ऐसे भी अनेकों लोग हैं, जो धनाभाव के कारण अपने बच्चों को न तो शिक्षा दिलवा पाते हैं और न किसी प्रकार के अच्छे संस्कार। उनके बच्चे बाल-मजदूरी की चक्की में पिसने को मजबूर हैं।

हमारा विश्वास है कि यदि आप हमें अपनी कमाई में से कुछ भाग सहयोग-राशि के रूप में हमारे पास भेजने का प्रयत्न करें, तो हम कुछ बच्चों को अवश्य ही शिक्षित करने का प्रयास कर सकते हैं। जो बच्चे धनाभाव के कारण पढ़ नहीं पाते, उनके लिए यदि आपका आर्थिक सहयोग हमें वार्षिक आहुति के रूप में मिलता रहे, तो हम अपनी योजना **"बाल चरित्र निर्माण योजना"** के अन्तर्गत उन्हें श्रेष्ठ गुरुकुलीय-शिक्षा दिलवाने का प्रयत्न अवश्य ही कर सकते हैं। इस कार्य में एक बच्चे की शिक्षा पर पुस्तक-कॉपी-वस्त्र के अतिरिक्त कम से कम **20,000 (बीस हजार)** रुपये का वार्षिक व्यय होता है।

आप यदि हमारे साथ इस ज्ञान-यज्ञ में अपनी भागीदारी निभाना चाहते हैं, तो आप **20,000** रुपये की धनराशि **नकद** या **चैक/ड्राफ्ट** के रूप में **"बाल चरित्र निर्माण योजना"** के नाम से भेज सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जो बच्चे एम.सी.डी के स्कूलों में अथवा प्राईवेट स्कूलों में पढ़ते हैं, यदि आप उनकी पढ़ाई के निमित्त कोई निश्चित मासिक अथवा वार्षिक राशि सहयोग के रूप में देना चाहते हैं, तो उस धनराशि को भी आप हमारी संस्था के पते पर भेज सकते हैं।

- निवेदक -

आचार्य श्याम देव

अधिष्ठाता - बाल चरित्र निर्माण योजना

डब्ल्यू. जैड. - 869, नारायणा, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09811064932, 09350233885, 09350733444

E-mail : balcharitranirmanyojna@gmail.com

हमारा उद्देश्य

(1) भारतीय योग-पद्धति का प्रचार-प्रसार कर, स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु समय-समय पर योग शिविरों का समायोजन कर, स्वास्थ्य के प्रति जन-मानस को जागरुक करने का अभियान चलाना।

(2) हमारे सभी शास्त्र संस्कृत-भाषा में हैं। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा को कोई स्थान नहीं है, जबकि यह भाषा सभी भाषाओं की जननी तथा विश्व की प्राचीनतम भाषा है। अतः इस भाषा के अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा अध्ययन की व्यवस्था करना।

(3) सभी वर्ग के बालक-बालिकाओं के लिए "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर" का आयोजन कर, भारतीय संस्कृति के रूप में परिचय करना; जिससे सभी जन बड़े गौरव के साथ सबके सामने कह सकें - "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववाराः" यही संस्कृति प्राचीन व श्रेष्ठतम है, जो मनुष्य का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम है।

(4) जो बालक-बालिकायें आर्थिक परिस्थितियों के कारण शिक्षा से वञ्चित रह जाते हैं, उन्हें आर्थिक सहयोग करना, ताकि वे शिक्षा को प्राप्त कर, देश के श्रेष्ठ नागरिक बन सकें।

(5) अत्यन्त ग़रीब, विकलांग बालक-बालिकाओं एवं वृद्धजनों के उत्थान एवं स्वास्थ्य के लिए उन्हें आर्थिक सहयोग करना।

(6) वेद, धर्म व यज्ञादि के माध्यम से प्राकृतिक व सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त करना।

(7) धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन कर उन्हें जनमानस तक पहुंचाने का प्रयास करना; जिससे कि सभी मनुष्य सत्साहित्य से अपने विचारों को श्रेष्ठ बनाकर, मानवीयता के सद्गुणों को ग्रहण करने में सक्षम हो सकें।

यदि आप चाहते हैं कि ...

हम जिस उद्देश्य को लेकर समाज-सुधार के कार्यों में संलग्न हैं, वे सब कार्य सामाजिक-सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, तो आप हमारा अधिक से अधिक आर्थिक-सहयोग करें, जिससे हम समाज-सुधार के कार्यों को और भी अधिक गति-प्रगति दे सकें। आपका मासिक-अर्द्धवार्षिक एवं वार्षिक सहयोग संस्था द्वारा किये जाने वाले समाज-सुधार कार्यों में अवश्य ही सहायक सिद्ध होगा।

आचार्य श्याम (दूरभाष - 9811064932, 9555534381, 9350233885)